श्रीः ॥

श्रीमदष्टावक्रमुनिविरचिता–

अष्टावक्रगीता।

सान्वयभाषाटीकासमेता।

गङ्गाविष्णु श्रीकृष्णदास,

मालिक–" लक्ष्मीवेङ्कटेश्वर " स्टीम्-प्रेस,

कल्याण–बंबई.

संवत् १९८९, शके १८५४.

प्रस्तावना ।

परमतत्त्वका ज्ञान शास्त्र और ब्रह्मवेत्ता सद्गुरुके उपदेशके विना किसीको भी नहीं होता है, इसवास्ते परमोपकारक महर्षिजनोंने अध्यात्मविद्योपदेशके अर्थ अनेक प्रकारके वेदान्तग्रन्थ निर्माण करके परमतत्त्वको प्रगट किया है । उन ऋषियोंमें अग्रगण्य श्रीअष्टावक्रमहर्षिजीने राजा जनकजीके प्रति जो ब्रह्मविद्याका उपदेश किया, वह " अष्टावक्रगीता " इस नामसे ग्रन्थरूप होकर प्रसिद्ध हुआ ।

यह " अष्टावक्रगीता " ग्रन्थ ब्रह्मविद्यामें अतिमान्य है, इसका लाभ सर्व लोगोंको होनेके वास्ते हमने इसकी सरल सुबोध सान्वयभाषाटीका बनवाकर निज " श्रीवेंकटेश्वर " स्टीम्-प्रेसमें छापकर प्रसिद्ध किया है.

सर्व सज्जन ब्रह्मविद्याभिलाषियोंसे प्रार्थना है कि, इस ग्रन्थका संग्रह करके इसमें कहे हुए ब्रह्मोपदेशको जानकर इस भवसागरके तरनेका उपाय निश्चित करके अपने इस जन्मको सार्थक करेंगे ।

कृपाभिलाषी–

खेमराज श्रीकृष्णदास,

"श्रीवेङ्कटेश्वर" स्टीम्-मुद्रणयन्त्रालयाध्यक्ष-बम्बई.

श्रीः ॥

प्रकरणानुक्रमणिका ।

इत्यष्टावक्रगीताप्रकरणानुक्रमणिका ॥

श्रीः ।

अष्टावक्रगीता

सान्वय-भाषाटीकासहिता ।

प्रथमप्रकरणम् १.

कथं ज्ञानमवाप्नोति कथं मुक्तिर्भविष्यति ।
वैराग्यं च कथं प्राप्तमेतद्ब्रूहि मम प्रभो ॥ १ ॥

अन्वयः-हे प्रभो ! (पुरुषः) ज्ञानम् कथम् अवाप्नोति । (पुंसः) मुक्तिः कथम् भविष्यति । (पुंसः) वैराग्यम् च कथम् प्राप्तं (भवति) एतत् मम ब्रूहि ॥ १ ॥

एक समय मिथिलाधीश राजा जनकके मनमें पूर्वपुण्यके प्रभावसे इस प्रकार जिज्ञासा उत्पन्न हुई कि, इस असार संसार-रूपके बन्धनसे किस प्रकार मुक्ति होगी और फिर उन्होंने ऐसा भी विचार किया कि, किसी ब्रह्मज्ञानी गुरुके समीप जाना चाहिये, इसी अन्तरमें उनको मानो ब्रह्मज्ञानके समुद्र परमदयालु श्रीअष्टावक्रजी मिले । इन मुनिकी आकृतिका देखकर राजा जनकके मनमें यह अभिमान हुआ कि, यह ब्राह्मण अत्यन्त ही कुरूप है । तब दूसरेके चित्तका वृत्तान्त

जाननेवाले अष्टावक्रजी राजाके मनका भी विचार दिव्य दृष्टिके द्वारा जानकर राजा जनकसे बोले कि; हे राजन् ! देहदृष्टिको छोड़कर यदि आत्मदृष्टि करोगे तो यह देह टेढ़ा है परन्तु इसमें स्थिर आत्मा टेढ़ा नहीं है, जिस प्रकार नदी टेढी होती है परन्तु उसका जल टेढ़ा नहीं होता है, जिस प्रकार इक्षु (गन्ना) टेढ़ा होता है परन्तु उसका रस टेढा नहीं है। इसी प्रकार यद्यपि पांचभौतिक यह देह टेढ़ा है, परन्तु अन्तर्यामी आत्मा टेढ़ा नहीं है। किन्तु आत्मा असंग, निर्विकार, व्यापक, ज्ञानघन, सच्चिदानंदस्वरूप, अखंड, अच्छेद्य, अभेद्य, नित्य, शुद्ध, बुद्ध और मुक्तस्वभाव है, इस कारण हे राजन् ! तुम देहदृष्टिको त्यागकर आत्मदृष्टि करो । परम दयालु अष्टावक्रजीके इस प्रकारके वचन सुननेसे राजा जनकका मोह तत्काल दूर हो गया और राजा जनकने मनमें विचार किया कि, मेरे सब मनोरथ सिद्ध हो गये, मैं अब इनको ही गुरु करूंगा, क्योंकि यह महात्मा ब्रह्मविद्याके समुद्ररूप हैं, जीवन्मुक्त हैं, अब इनसे अधिक ज्ञानी मुझे कौन मिलेगा ? अब तो इनसे ही गुरुदीक्षा लेकर इनकी ही शरण लेना योग्य है। इस प्रकार विचारकर राजा जनक अष्टावक्रजीसे इस प्रकार बोले कि हे महात्मन् ! मैं संसारबन्धनसे छूटनेके निमित्त आपकी शरण लेनेकी

इच्छा करता हूँ। अष्टावक्रजीने भी राजा जनकको अधिकारी समझकर अपना शिष्य कर लिया, तब राजा जनक अपने चित्तके सन्देहोंको दूर करनेके निमित्त और ब्रह्मविद्याके श्रवण करनेकी इच्छा करके अष्टावक्रजीसे पूछने लगे। अष्टावक्र-जीसे राजा जनक प्रश्न करते हैं कि, हे प्रभो! अविद्याकरके मोहित नाना प्रकारके मिथ्या संकल्प विकल्पोंकरके वारंवार जन्ममरणरूप दुःखोंको भोगनेवाले इस पुरुषको अविद्यानिवृत्ति-रूप ज्ञान किस प्रकार प्राप्त होता है, मुक्ति कैसी मिलती है और वैराग्य कैसा प्राप्त है? इन तीनों प्रश्नोंका उत्तर कृपा करके मुझसे कहिये ॥ १ ॥

अष्टावक्र उवाच।

मुक्तिमिच्छसि चेत्तात विषयान्विषवत्त्यज।
क्षमार्जवदयातोषसत्यं पीयूषवद्भज ॥ २ ॥

अन्वयः—हे तात! चेत् मुक्तिम् इच्छसि (तर्हि) विषयान् विषवत् (अवगत्य) त्यज। क्षमार्जवदयातोषसत्यम् पीयूषवत् (अवगत्य) भज॥ २॥

इस प्रकार जब राजा जनकने प्रश्न किया तब ज्ञानविज्ञान संपन्न परम दयालु अष्टावक्रमुनिने विचार किया कि, यह पुरुष तो अधिकारी है और संसारबन्धनसे मुक्त होनेकी इच्छासे मेरे निकट आया है, इस कारण इसको साधनचतुष्टयपूर्वक ब्रह्म-तत्त्वका उपदेश करूँ, क्योंकि साधनचतुष्टयके विना कोटि

उपाय करनेसे भी ब्रह्मविद्या फलीभूत नहीं होती है, इस कारण शिष्यको प्रथम साधनचतुष्टयका उपदेश करना योग्य है और साधनचतुष्टयके अनंतरही ब्रह्मज्ञानके विषयकी इच्छा करनी चाहिये, इस प्रकार विचारकर अष्टावक्रजी बोले कि, हे तात ! हे शिष्य ! संपूर्ण अनर्थोंकी निवृत्ति और परमानंदमुक्तिकी इच्छा जब हो तब शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध इन पांचों विषयोंको त्याग दे, ये पांच विषय कर्ण, त्वचा, नेत्र, जिह्वा और नासिका इन पांच ज्ञानेन्द्रियोंके हैं, ये संपूर्ण जीवके बंधन हैं, इनसे बँधा हुआ जीव उत्पन्न होता है और मरता है तब बड़ा दुःखी होता है, जिस प्रकार विष भक्षण करनेवाले पुरुषको दुःख होता है, उसी प्रकार शब्दादिविषयभोग करनेवाला पुरुष दुःखी होता है । अर्थात् शब्दादिविषय महा अनर्थका मूल है; उन विषयोंको तू त्याग दे। अभिप्राय यह कि, देह आदिके विषयमें " मैं हूँ, मेरा है " इत्यादि अध्यास मतकर, इस प्रकार बाह्य इंद्रियोंके दमन करनेका उपदेश किया। जो पुरुष इस प्रकार करता है उसको ' दम ' नामवाले प्रथम साधनकी प्राप्ति होती है और जो अंतःकरणको वशमें करलेता है उसको ' शम ' नामवाली दूसरी साधनसंपत्तिकी प्राप्ति होती है । जिसका मन अपने वशमें

हो जाता है, उसका एक ब्रह्माकार मन हो जाता है, उसका नाम वेदांतशास्त्रमें निर्विकल्पक समाधि कहा है, उस निर्विकल्पकसमाधिकी स्थितिके अर्थ क्षमा (सब सह लेना), आर्जव (अविद्यारूप दोषसे निवृत्ति रखना), दया (विना कारण ही पराये दुःख दूर करनेकी इच्छा), तोष (सदा संतुष्ट रहना), सत्य (त्रिकालमें एक रूपता) इन पांच सात्त्विक गुणोंका सेवन करे। जिस प्रकार कोई पुरुष अमृततुल्य ओषधिका सेवन करे और उस ओषधिके प्रभावसे उसके संपूर्ण रोग दूर हो जाते हैं, उसी प्रकार जो पुरुष अमृततुल्य इन पांच गुणोंको सेवन करता है, उसके जन्म मृत्युरूपरोग दूर होजाते हैं अर्थात् इस संसारके विषयमें जिस पुरुषको मुक्तिकी इच्छा हो वह विषयोंका त्याग कर दे, विषयोंका त्याग किये विना मुक्ति कदापि नहीं होती है। मुक्ति अनेक दुःखोंको दूर करनेवाली और परमानंदकी देनेवाली है। इस प्रकार अष्टावक्रमुनिने प्रथम शिष्यको विषयोंके त्यागनेका उपदेश दिया ॥ २ ॥

न पृथ्वी न जलं नाग्निर्न वायुर्द्यौर्न वा भवान्।
एषांसाक्षिणमात्मानं चिद्रूपं विद्धि मुक्तये ॥ ३ ॥

अन्वयः-(हे शिष्य !) भवान्, न पृथ्वी, न जलम्, न अग्निः, न वायुः, न वा द्यौः, एषाम् साक्षिणम् चिद्रूपम् आत्मानम् मुक्तये विद्धि ॥३॥

अब मुनि साधनचतुष्टयसंपन्न शिष्यको मुक्तिका उपदेश करते हैं-यहां शिष्य शंका करता हैं कि, हे गुरो ! पंचभूतोंका शरीरही आत्मा है और पंचभूतोंकेही पांच विषय हैं, सो उन पंचभूतोंका जो स्वभाव है उसका कदापि त्याग नहीं हो सकता. क्योंकि, पृथ्वीसे गंधका या गंधसे पृथ्वीका कदापि वियोग नहीं हो सकना किंतु वे दोनों एकरूप होकर रहते हैं, इसी प्रकार रस और जल, अग्नि और रूप, वायु और स्पर्श, शब्द और आकाश है, अर्थात् शब्दादि पांच विषयोंका त्याग तो तब होसकता है जब पंचभूतोंका त्याग हो और यदि भूतका त्याग हो तो शरीरपात हो जावेगा; फिर उपदेश ग्रहण करनेवाला कौन रहेगा ? तथा मुक्तिसुखको कौन भोगेगा ? अर्थात् विषयका त्याग तो कदापि नहीं हो सकता । इस शंकाके निवारण करनेके अर्थ अष्टावक्रजी उत्तर देते हैं, हे शिष्य ! पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश तथा इनके धर्म जो शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध हैं सो तू नहीं है, पांच भौतिक शरीरके विषयमें तू अज्ञानसे अहम्ममभाव (मैं हूं, मेरा है इत्यादि) मानता है, सो इनका त्याग कर अर्थात् इस शरीरके अभिमानका

त्याग करदे और विषयोंको अनात्मधर्म जानकर त्याग कर दे। अब शिष्य इस विषयमें फिर शंका करता है कि, हे गुरो! मैं गौर वर्ण हूं, कृष्णवर्ण हूं, रूपवान् हूँ, पुष्ट हूं, कुरूप हूँ, काणा हूँ, नीच हूँ इस प्रकारकी प्रतीति इस पांचभौतिक शरीरमें अनादिकालसे सब ही पुरुषोंको हो जाती है, फिर तुमने जो कहा कि, तू देह नहीं है सो इसमें क्या युक्ति है? तब अष्टावक्र बोले कि—हे शिष्य! अविवेकी पुरुषको इस प्रकार प्रतीति होती है, विवेक दृष्टिसे तू देहइन्द्रियादिका द्रष्टा और देहइन्द्रियोंसे पृथक् है। जिस प्रकार घटको देखनेवाला पुरुष घटसे पृथक् होता है उसी प्रकार आत्माको भी सर्वदोषरहित और सबका साक्षी जान। इस विषयमें न्यायशास्त्रवालोंकी शंका है कि, साक्षीपना तो बुद्धिमें रहता है, इस कारण बुद्धिही आत्मा होजायगी. इसका समाधान यह है कि बुद्धि तो जड़ है और आत्मा चेतन माना है इस कारण जड़ जो बुद्धि सो आत्मा नहीं हो सकती, अतः आत्माको चैतन्यस्वरूप जान। यहां शिष्य प्रश्न करता है कि हे गुरो! चैतन्यरूप आत्माके जाननेसे क्या फल होता है? सो कहिये। इसके उत्तरमें अष्टावक्रजी कहते हैं कि साक्षी और चैतन्य जो आत्मा, उसको जाननेसे पुरुष जीवन्मुक्तपदको प्राप्त होता

है, यही आत्मज्ञानका फल है, मुक्तिका स्वरूप किसीके विचारमें नहीं आया है, षट्शास्त्रकार अपनी २ बुद्धिके अनुसार मुक्तिके स्वरूपकी कल्पना करते हैं । न्यायशास्त्रवाले इस प्रकार कहते हैं कि दुःखमात्रका जो अत्यंत नाश है वही मुक्ति है और बलवान् प्रभाकरमतावलम्बी मीमांसकोंका यह कथन है कि समस्त दुःखोंके उत्पन्न होनेसे पहिले जो सुख है वही मुक्ति है, बौद्धमतवालोंका यह कथन है कि देहका नाश होना ही मुक्ति है, इस प्रकार भिन्न २ कल्पना करते हैं, परन्तु यथार्थ बोध नहीं होता है, किंतु वेदांतशास्त्रके अनुसार आत्मज्ञान ही मुक्ति है, इस कारण अष्टावक्रमुनि शिष्यको उपदेश करते हैं ॥ ३ ॥

यदि देहं पृथक्कृत्य चिति विश्रम्य तिष्ठसि ।
अधुनैव सुखी शांतो बंधमुक्तो भविष्यसि ॥ ४ ॥

अन्वयः–(हे शिष्य !) यदि देहं पृथक्कृत्य चिति विश्रम्य तिष्ठसि (तर्हि) अधुना एव सुखी शान्तः बन्धमुक्तः भविष्यसि ॥ ४

हे शिष्य ! यदि तू देह तथा आत्माके विवेक करके अलग जानेगा और आत्माके विषयमें विश्राम करके चित्तको एकाग्र करेगा तो तू इस वर्तमान ही मनुष्यदेहके विषयमें

सुख तथा शान्तिको प्राप्त होगा अर्थात् बंधमुक्त कहिये कर्तृत्व (कर्तापना) भोक्तृत्व (भोक्तापना) आदि अनेक अनर्थोंसे छूट जावेगा ॥ ४ ॥

न त्वं विप्रादिको वर्णो नाश्रमी नाक्षगोचरः ।
असङ्गोऽसि निराकारो विश्वसाक्षी सुखी भव ॥५॥

अन्वयः--त्वम् विप्रादिकः वर्णः न, आश्रमी न, अक्षगोचरः न (किन्तु, त्वम्) असंगः, निराकारः, विश्वसाक्षी असि (अतः कर्मासक्तिं विहाय चिति विश्रम्य) सुखी भव ॥ ५ ॥

शिष्य प्रश्न करता है कि–हे गुरो ! मैं तो वर्णाश्रमके धर्ममें हूं इस कारण मुझे वर्णाश्रमके कर्मका करना योग्य है, अर्थात् वर्णाश्रमके कर्म करनेसे आत्माके विषयमें विश्राम करके मुक्ति, किसप्रकार होगी ? तब इसका गुरु समाधान करते हैं कि, तू ब्राह्मण आदि नहीं है । तू ब्रह्मचारी आदि किसी आश्रममें नहीं है । तहाँ शिष्य प्रश्न करता है कि, मैं ब्राह्मण हूं, मैं संन्यासी हूं इत्यादि प्रत्यक्ष है । इस कारण आत्मा ही वर्णाश्रमी है । तब गुरु समाधान करते हैं कि, आत्माका इंद्रिय तथा अंतःकरण करके प्रत्यक्ष नहीं होता है और जिसका प्रत्यक्ष होता है वह देह है । शिष्य फिर प्रश्न करता है कि मैं क्या वस्तु हूं ? तब गुरु समाधान करते हैं कि तू

असंग अर्थात् देहादिक उपाधि तथा आकाररहित विश्वका साक्षी आत्मस्वरूप है । अर्थात् तुझमें वर्णाश्रमपना नहीं है इस कारण कर्मोंके विषयमें आसक्ति न करके चैतन्यरूप आत्माके विषयमें विश्राम करके परमानन्दको प्राप्त हो ॥ ५ ॥

धर्माधर्मौ सुखं दुःखं मानसानि न ते विभो ।
न कर्ताऽसि न भोक्ताऽसि मुक्त एवासि सर्वदा ॥ ६ ॥

अन्वयः—हे विभो ! धर्माधर्मौ सुखम् दुःखम् मानसानि ते न (त्वम्) कर्ता न असि भोक्ता न असि, (किन्तु) सर्वदा मुक्त एव असि ॥ ६ ॥

यहां शिष्य प्रश्न करता है कि—वेदोक्त वर्णाश्रमके कर्मोंको त्यागकर आत्माके विषे विश्राम करनेमें भी तो अधर्मरूप प्रत्यवाय होता है ? इसका गुरु समाधान करते हैं—हे शिष्य ! धर्म अधर्म सुख और दुःख यह तो मनका संकल्प है । इस कारण इन धर्माधर्मादिके साथ तेरा त्रिकाल भी संबंध नहीं है । तू कर्ता नहीं है तू भोक्ता नहीं है । क्योंकि जो विहित अथवा निषिद्ध कर्म करता है वही सुखदुःखका भोक्ता है । सो तुझमें नहीं है । क्योंकि तू तो शुद्धस्वरूप है और सर्वकाल मुक्त है । अज्ञान करके भासनेवाले सुख दुःख आत्माके विषे आश्रय करके ही निवृत्त हो जाते हैं ॥ ६ ॥

एको द्रष्टाऽसि सर्वस्य मुक्तप्रायोऽसि सर्वदा।
अयमेव हि ते बन्धो द्रष्टारं पश्यसीतरम् ॥७॥

अन्वयः-(हे शिष्य! त्वम्) सर्वस्य द्रष्टा एकः असि, सर्वदा मुक्तप्रायः असि, हि ते अयम् एव बन्धः(यम्) द्रष्टारम् इतरम् पश्यसि ॥ ७ ॥

यहां शिष्य प्रश्न करता है कि-शुद्ध एक नित्य मुक्त ऐसा जो आत्मा है उसका बंध किस निमित्तसे होता है कि जिस बंधनके छुडानेके अर्थ बड़े २ योगी पुरुष यत्न करते हैं? तब गुरु समाधान करते हैं कि हे शिष्य ! तू अद्वितीय सर्वसाक्षी सर्वदा मुक्त है, तू जो द्रष्टाको द्रष्टा न जानकर अन्य जानता है यही बन्धन है। सर्व प्राणियोंमें विद्यमान आत्मा एक ही है और अभिमानी जीवके जन्मजन्मांतर ग्रहणकरने पर भी आत्मा सर्वदा मुक्त है। अब शिष्य प्रश्न करता है कि, फिर संसारबंध क्या वस्तु है ? इसका गुरु समाधान करते हैं कि यह प्रत्यक्ष देहाभिमान ही संसारबंधन है अर्थात् यह कार्य करता हूँ, यह भोग करता हूँ इत्यादि ज्ञान ही संसारबन्धन है, वास्तवमें आत्मा निर्लेप है, तथापि देह और मनके भोगको अत्माका भोग मानकर बद्धसा हो जाता है ॥ ७ ॥

अहं कर्त्तेत्यहंमानमहाकृष्णाहिदंशितः।
नाहंकर्त्तेति विश्वासामृतं पीत्वा सुखीभव ॥ ८॥

अन्वयः-(हे शिष्य !) अहम् कर्ता इति अहंमानमहाकृष्णाहिदंशितः (त्वम्) अहं कर्ता न इति विश्वासामृतम् पीत्वा सुखी भव ॥ ८ ॥

यहांतक बंधहेतुका वर्णन किया, अब अनर्थके हेतुका वर्णन करते हुए अनर्थकी निवृत्ति और परमानन्दके उपायका वर्णन करते हैं-' मैं करता हूँ ' इस प्रकार अहंकाररूप महाकाल सर्पसे तू काटा हुआ है, इस कारण ' मैं कर्त्ता नहीं हूँ ' इस प्रकार विश्वासरूप अमृत पीकर सुखी हो। आत्माभिमान रूप सर्पके विषसे ज्ञानरहित और जर्जरीभूत हुआ है, यह बन्धन जितने दिनोंतक रहेगा तबतक किसी प्रकार सुखकी प्राप्ति नहीं होगी, जिस दिन यह जानेगा कि " मैं देहादि कोई वस्तु नहीं हूँ, मैं निर्लिप्त हूँ " उस दिन किसी प्रकारका मोह स्पर्श नहीं कर सकेगा ॥ ८ ॥

एको विशुद्धबोधोऽहमिति निश्चयवह्निना ।
प्रज्वाल्याज्ञानगहनं वीतशोकः सुखीभव ॥ ९ ॥

अन्वयः-(हे शिष्य !) अहम् विशुद्धबोधः एकः (अस्मि) इति निश्चयवह्निना अज्ञानगहनम् प्रज्वाल्य वीतशोकः(सन्) सुखी भव ॥ ९ ॥

फिर शिष्य प्रश्न करता है कि, आत्मज्ञानरूपी अमृतपान किस प्रकार करूँ ? तब गुरु समाधान करते हैं कि हे शिष्य ! मैं एक हूँ अर्थात् मेरे विषे सजाति विजातिका भेद नहीं और स्वगतभेद भी नहीं है, केवल एक विशुद्धबोध और स्वप्रकाश

रूप हूँ. निश्चयरूपी अग्निसे अज्ञानरूपी वनको भस्म करके शोक, मोह, राग, द्वेष, प्रवृत्ति, जन्म, मृत्यु इनके नाश होनेपर शोकरहित होकर परमानन्दको प्राप्त हो ॥ ९ ॥

यत्र विश्वमिदं भाति कल्पितं रज्जुसर्पवत्।
आनन्दपरमानन्दः स बोधस्त्वंसुखंचर॥१०॥

अन्वयः—यत्र इदम् विश्वम् रज्जुसर्पवत् कल्पितम् भाति सः आनन्दपरमानन्दः बोधः त्वं सुखं चर ॥ १० ॥

यहां शिष्य शङ्का करता है कि, आत्मज्ञानसे अज्ञानरूपी वनके भस्म होनेपर भी सत्यरूप संसारकी ज्ञानसे निवृत्ति न होनेके कारण शोकरहित किस प्रकार होऊँगा ? तब गुरु समाधान करते हैं कि, हे शिष्य ! जिस प्रकार रज्जुके विषे सर्पकी प्रतीति होती है और उसका भ्रम प्रकाश होनेसे निवृत्ति हो जाती है, उसी प्रकार ब्रह्मके विषे जगत्की प्रतीति अज्ञानकल्पित है, ज्ञान होनेसे नष्ट हो जाती है। तू ज्ञानरूप चैतन्य आत्मा है, इस कारण सुखपूर्वक विचर । जिस स्वप्नमें किसी पुरुषको सिंह मारता है तो वह बड़ा दुःखी होता है परन्तु निद्राके दूर होनेपर उस कल्पित दुःखका जिस प्रकार नाश हो जाता है उसी प्रकार तू ज्ञानसे अज्ञानका नाश करके सुखी हो । फिर शिष्य प्रश्न करता है कि, हे गुरो ! दुःखरूप जगत् अज्ञा-

नसे प्रतीत होता है और ज्ञानसे उसका नाश हो जाता है परंतु सुख किस प्रकार प्राप्त होता है ? तब गुरु समाधान करते हैं कि, हे शिष्य ! दुःखरूपी संसारके नाश होनेपर आत्मा स्वभावसेही आनंदस्वरूप हो जाता है, मनुष्यलोकसे तथा देवलोकसे आत्माका आनंद परम उत्कृष्ट और अत्यंत अधिक है। श्रुतिमें भी कहा है-" एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति " इति ॥ १० ॥

मुक्ताभिमानीमुक्तोहिबद्धो बद्धाभिमान्यपि ।
किंवदंतीहसत्येयंयामतिःसागतिर्भवेत् ॥ ११ ॥

अन्वयः-इह मुक्ताभिमानी मुक्तः हि एव, बद्धाभिमानी अपि बद्धः । या मतिः सा गतिः भवेत् इयम् किंवदन्ती सत्या ॥ ११ ॥

शिष्य शंका करता है कि, यदि संपूर्ण संसार रज्जुके विषयमें सर्पके समान कल्पित है, वास्तवमें आत्मा परमानंद स्वरूप है तो बंध मोक्ष किस प्रकार होता है ? तब गुरु समाधान करते हैं कि, हे शिष्य ! जिस पुरुषको गुरुकी कृपासे यह निश्चय हो जाता है कि-" मैं मुक्तरूप हूं " वही मुक्त है और जिसके ऊपर सद्गुरुकी कृपा नहीं होती है और वह यह जानता है कि " मैं अल्पज्ञ जीव और संसारबंधनमें बंधा हुआ हूँ " वही बद्ध है, क्योंकि बंध और मोक्ष अभिमानसे ही

उत्पन्न होते हैं अर्थात् मरणसमयमें जैसा अभिमान होता है वैसीही गति होती है। यह बात श्रुति, स्मृति, पुराण और ज्ञानी पुरुष प्रमाणमानते हैं कि–" मरणे या मतिः ।" यह गीतामें भी कहा है कि–" यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् । तं तमेवेति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥ " इसका अभिप्राय यह है कि, श्रीकृष्णजी उपदेश करते हैं कि, हे अर्जुन ! अन्तसमयमें जिस जिस भावको स्मरण करता हुआ पुरुष शरीरको त्यागता है वैसी वैसी भावनासे उस उस गतिको ही प्राप्त होता है। श्रुतिमें भी कहा है कि–" तं विद्याकर्मणी समारभेते पूर्वप्रज्ञा च " इसका भी यही अभिप्राय है और बंध तथा मोक्ष अभिमानसे होते हैं वास्तवमें नहीं, यह वार्ता पहले कह आये हैं तो भी दूसरी बार शिष्यको बोध होनेके अर्थ कहा है, इस कारण कोई दोष नहीं है, क्योंकि आत्मज्ञान अत्यन्त कठिन है ॥ ११ ॥

आत्मासाक्षीविभुः पूर्ण एको मुक्तश्चिदक्रियः ।
असंगोनिःस्पृहःशांतोभ्रमात्संसारवानिव ॥ १२ ॥

अन्वयः–साक्षी विभुः पूर्णः एकः मुक्तः चित् अक्रियः असंगः निस्पृहः शांतः आत्मा भ्रमात् संसारवान् इव (भाति) ॥ १२ ॥

" जीवात्माके बंध और मोक्ष पारमार्थिक है " इस तार्किकको शंकाको दूर करनेके निमित्त कहते हैं कि, अज्ञानसे

देहको आत्मा माना है इस कारण वह संसारी प्रतीत होता है, परंतु वास्तवमें आत्मा संसारी नहीं है, क्योंकि आत्मा तो साक्षी है और अहंकारादि अंतःकरणके धर्मको जाननेवाला है और विभु अर्थात् नानाप्रकारका संसार जिससे उत्पन्न हुआ है, सर्वका अधिष्ठान है, संपूर्ण व्यापक है, एक अर्थात् स्वगतादिक तीन भेदोंसे रहित है, मुक्त अर्थात् मायाका कार्य जो संसार उसके बंधनसे रहित, चैतन्यरूप, अक्रिय, असंग, निःस्पृह अर्थात् विषयकी इच्छासे रहित है और शान्त अर्थात् प्रवृत्तिनिवृत्तिरहित है, इस कारण वास्तवमें आत्मा संसारी नहीं है ॥ १२ ॥

कूटस्थं बोधमद्वैतमात्मानं परिभावय ।
अभासोऽहंभ्रमंमुक्त्वाभावंबाह्यमथान्तरम् १३॥

अन्वयः–अभासः अहम् (इति) भ्रमम् । अथ बाह्यम् आन्तरम् भावं मुक्त्वा आत्मानम् कूटस्थम् बोधम् अद्वैतम् परिभावय ॥ १३ ॥

मैं देहरूपे हूँ, स्त्री पुत्रादिक मेरे हैं, मैं सुखी हूँ; दुःखी हूँ यह अनादि कालका अज्ञान एक बार आत्मज्ञानके उपदेशसे निवृत्त नहीं हो सकता है । व्यासजीनेभी कहा है–"आवृत्तिरसकृदुपदेशात् ।" "श्रोतव्यो मन्तव्यो०" इत्यादि श्रुतिके विषयमें वार वार उपदेश किया है, इस कारण श्रवण मननादि वारंवार करने चाहिये; इस प्रमाणके अनुसार अष्टावक्रमुनि

कुत्सितवासनाओंका त्याग करते हुए वारंवार अद्वैतभावनाका उपदेश करते हैं कि मैं अहंकार नहीं हूं, मैं देह नहीं हूं, स्त्री पुत्रादिक मेरे नहीं हैं, मैं सुखी नहीं हूं, दुःखी नहीं हूं, मूढ नहीं हूँ इन बाह्य और अंतरकी भावनाओंका त्याग करके कूटस्थ अर्थात् निर्विकारबोधरूप अद्वैत आत्मस्वरूपका विचार कर॥ १३॥

देहाभिमानपाशेन चिरं बद्धोऽसि पुत्रक ।
बोधोऽहंज्ञानखड्गेनतंनिष्कृत्यसुखीभव ॥ १४ ॥

अन्वयः—हे पुत्रक ! देहाभिमानपाशेन चिरं बद्धः असि (अतः) अहम् बोधः (इति) ज्ञानखड्गेन तं देहाभिमानपाशम् निष्कृत्य सुखी भव ॥१४॥

अनादि कालका यह देहाभिमान एक बार उपदेश करनेसे निवृत्त नहीं होता है, इस कारण गुरु उपदेश करते हैं कि, हे शिष्य ! अनादिकालसे इस समयतक देहाभिमानरूपी फाँसीसे तू दृढ बन्धा हुआ है, अनेक जन्मोंमें भी उस बन्धनके काटनेको तू समर्थ नहीं होगा, इस कारण शुद्ध विचार वारंवार करके " मैं बोधरूप अखंड परिपूर्ण आत्मारूप हूँ " इस ज्ञानरूपी खड्गको हाथमें लेकर इस फाँसीको काटकर सुखी हो ॥ १४ ॥

निःसंगोनिष्क्रियोऽसित्वंस्वप्रकाशोनिरंजनः ।
अयमेव हि ते बन्धः समाधिमनुतिष्ठसि ॥ १५ ॥

अन्वयः—(हे शिष्य !) त्वम् (वस्तुतः) स्वप्रकाशः निरंजनः निःसंगः निष्क्रियः असि (तथापि) हि ते बन्धः अयम् एव (यत्) समाधिम् अनुतिष्ठसि ॥ १५ ॥

केवल चित्तकी वृत्तिका निरोधरूप समाधि ही बन्धनकी निवृत्तिका हेतु है, इस पातंजलमतका खंडन करते हैं कि-पातंजलयोगशास्त्रमें वर्णन किया है कि, जिसके अन्तःकरणकी वृत्ति विरामको प्राप्त हो जाती है उसका मोक्ष होता है, सो यह बात कल्पनामात्र ही है, अर्थात् तू अंतःकरणकी वृत्तिको जीतकर सविकल्पक हठ समाधि मत कर, क्योंकि तू निःसंग, क्रियारहित, स्वप्रकाश और निर्मल है, इस कारण सविकल्प हठ समाधिका अनुष्ठान भी तेरा बन्धन है। आत्मा सदा शुद्ध मुक्त है, इस कारण भ्रांतियुक्त जीवके चित्तको स्थिर करनेके निमित्त समाधिका अनुष्ठान करनेसे आत्माकी हानि वृद्धि कुछ नहीं होती है। जिसको सिद्धिलाभ अर्थात् आत्मज्ञान होजाता है उसको अन्य समाधिके अनुष्ठानसे क्या प्रयोजन है ? इस कारण ही राजा जनकके प्रति अष्टावक्रजी वर्णन करते हैं। तू जो समाधिका अनुष्ठान करता है यही तेरा बन्धन है, परन्तु आत्मज्ञानविहीन पुरुषको ज्ञानप्राप्तिके निमित्त समाधिका अनुष्ठान करना आवश्यक है ॥ १५ ॥

त्वया व्याप्तमिदं विश्वं त्वयि प्रोतं यथार्थतः ।
शुद्धबुद्धस्वरूपस्त्वं मा गमः क्षुद्रचित्तताम् १६

अन्वयः-(हे शिष्य !) इदम् विश्वम् त्वया व्याप्तम्, त्वयि प्रोतम् । यथार्थतः शुद्धबुद्धस्वरूपः त्वम् क्षुद्रचित्तताम् मा गमः ॥ १६ ॥

अब शिष्यकी विपरीत बुद्धिको निवारण करनेके निमित्त गुरु उपदेश करते हैं, कि हे शिष्य! जिस प्रकार सुवर्णके कटक कुंडल आदि सुवर्ण व्याप्त होते हैं इसी प्रकार यह दृश्यमान संसार तुझसे व्याप्त है और जिस प्रकार मृत्तिकाके विषयमें घट, शराव आदि किया हुआ होता है, इसी प्रकार यह संपूर्ण संसार तेरे विषयमें प्रोत है। हे शिष्य! यथार्थ विचार करके तू सर्वप्रपंचरहित है। तथा शुद्ध बुद्ध चिद्रूप है, तू चित्तकी वृत्तिको विपरीत मत कर १६

निरपेक्षो निर्विकारो निर्भरः शीतलाशयः।
अगाधबुद्धिरक्षुब्धोभवचिन्मात्रवासनः॥ १७॥

अन्वयः-(हे शिष्य! त्वम्) निरपेक्षः निर्विकारः निर्भरः शीतलाशयः अगाधबुद्धिः अक्षुब्धः चिन्मात्रवासनो भव॥ १७॥

इस देहके विषयमें छः ऊर्मी तथा छः भावविकार प्रतीत होते हैं; सो तू नहीं है, किन्तु उनसे भिन्न और निरपेक्ष अर्थात् इच्छा रहित है। यहां शिष्य शंका करता है कि, हे गुरो! छः ऊर्मी और छः भावविकारोंका विस्तारपूर्वक वर्णन करो, तब गुरु वर्णन करते हैं कि-हे शिष्य! क्षुधा, पिपासा (भूँख प्यास) ये दो प्राणकी ऊर्मी अर्थात् धर्म हैं और इसी प्रकार शोक तथा मोह ये दो मनकी ऊर्मी हैं, इसी प्रकार जन्म और मरण ये दो देहकी ऊर्मी हैं, ये जो छःऊर्मी हैं सो तू नहीं है। अब छःभावविकारोंको श्रवण कर-" जायते, अस्ति, वर्धते, विपरिणमते, अप-

क्षीयते, विनश्यति " ये छः भाव स्थूलदेहके विषे रहते हैं; सो तू नहीं है । तू तो उनका साक्षी अर्थात् जाननेवाला है । फिर शिष्य प्रश्न करता है कि—हे गुरो ! मैं कौन और क्या हूँ ? सो कृपा करके कहिये. तब गुरु कहते हैं कि, हे शिष्य ! तू निर्भर अर्थात् सच्चिदानन्दघनरूप है, शीतल अर्थात् सुखरूप है, तू अगाधबुद्धि जिसका कोई पार न पासके ऐसा है और अक्षुब्ध कहिये क्षोभ-रहित है, इस कारण तू क्रियाका त्याग कर चैतन्यरूप हो ॥ १७ ॥

साकारमनृतं विद्धि निराकारं तु निश्चलम् ।
एतत्तत्त्वोपदेशेन न पुनर्भवसम्भवः ॥ १८ ॥

अन्वयः—(हे शिष्य !) साकारम् अनृतम् निराकारं तु निश्चलं विद्धि, एतत्तत्त्वोपदेशेन पुनर्भवसम्भवः न ॥ १८ ॥

श्रीगुरु अष्टावक्रमुनिने प्रथम एक श्लोकमें मोक्षका विषय दिखाया था कि—" विषयान् विषवत्त्यज " और " सत्यं पीयूषवद्भज " इस प्रकार प्रथम श्लोकमें सब उपदेश दिया । परंतु विषयोंको विषतुल्य होनेमें और सत्यरूप आत्माके अमृततुल्य होनेमें कोई हेतु वर्णन नहीं किया, सो १७ वें श्लोकके विषे इसका वर्णन करके आत्माको सत्य और जगत्को अध्यस्त वर्णन किया है । दर्पणके विषे दिखता हुआ प्रतिबिम्ब अध्यस्त है, यह देखने मात्र होता है; सत्य नहीं, क्योंकि दर्पणके देखनेसे जो पुरुष होता है उसका शुद्ध प्रतिबिंब दीखता है और दर्पणके हटा-

नेसे वह प्रतिबिंब पुरुषमें लीन हो जाता है इस कारण आत्मा सत्य है और जो जगत् बुद्धियोगसे भासता है उस जगत्को विष-तुल्य जान और आत्माको सत्य जान, तब मोक्षरूप पुरुषार्थ सिद्ध होगा। इस कारण अब तीन श्लोकोंसे जगत्का मिथ्यात्व वर्णन करते हैं कि—हे शिष्य! साकार जो देह है उसको आदि ले संपूर्ण पदार्थ मिथ्या कल्पित हैं और निराकार जो आत्मतत्त्व सो निश्चल है और त्रिकालमें सत्य है, श्रुतिमें भी कहा है—"नित्यं विज्ञान-मानन्दं ब्रह्म" इस कारण चिन्मात्ररूप तत्त्वके उपदेशसे आत्माके विषे विश्राम करनेसे फिर संसारमें जन्म नहीं होता है अर्थात् मोक्ष हो जाता है॥ १८॥

यथैवादर्शमध्यस्थे रूपेऽन्तः परितस्तु सः।
तथैवास्मिन् शरीरेऽन्तः परितः परमेश्वरः॥ १९॥

अन्वयः—यथा एव आदर्शमध्यस्थे रूपे अन्तः परितः तु सः (व्याप्य वर्त्तते) तथा एव अस्मिन् शरीरे अन्तः परितः परमेश्वरः (व्याप्य स्थितः॥ १९॥

अब गुरु अष्टावक्रजी वर्णाश्रमधर्मवाला जो स्थूल शरीर है उससे और पुण्य--अपुण्यधर्मवाला जो लिङ्गशरीर है उससे विल-क्षण परिपूर्ण चैतन्यस्वरूपका दृष्टांतसहित उपदेश करते हैं कि—हे शिष्य! वर्णाश्रम धर्मरूप स्थूलशरीर तथा पुण्यपापरूपी लिंगश-रीर यह दोनों जड़ हैं, सो आत्मा नहीं हो सकते हैं, क्योंकि आत्मा तो व्यापक है। इस विषयमें दृष्टांत दिखाते हैं कि, जिस

प्रकार दर्पणमें प्रतिबिंब पड़ता है, उस दर्पणके भीतर और बाहर एक पुरुष व्यापक होता है । इसी प्रकार स्थूल शरीरके विषे एक ही आत्मा व्यापक रहा है, कहा भी है-" यत्र विश्वमिदं भाति कल्पितं रज्जुसर्पवत् " अर्थात् जिस परमात्माके विषे यह विश्व रज्जुके विषे कल्पित सर्पके समान प्रतीत होता है, वास्तवमें मिथ्या है ॥ १९ ॥

एकं सर्वगतं व्योम बहिरन्तर्यथा घटे ।
नित्यं निरंतरं ब्रह्म सर्वभूतगणे तथा ॥२०॥

अन्वयः--यथा सर्वगतम् एकम् व्योम घटे बहिः अन्तः (वर्तते) यथा नित्यम् ब्रह्म सर्वभूतगणे निरन्तरम् वर्त्तते ॥ २० ॥

ऊपरके श्लोकमें कांचका दृष्टांत दिया है, उसमें संशय होता है कि, कांचमें देह पूर्णरीतिसे व्याप्त नहीं होता है, इसी प्रकार देहमें कांच पूर्ण रीतिसे व्याप्त नहीं होता है, इसपर दूसरा दृष्टांत कहते हैं कि, जिस प्रकार आकाश है, वह घटादि सम्पूर्ण पदार्थोंमें व्याप रहा है इसी प्रकार अखंड अविनाशी ब्रह्म है, वह सम्पूर्ण प्राणियोंके विषे अंतरमें तथा बाहरमें व्याप रहा है। इस विषयमें श्रुतिका भी प्रमाण है-"एष त आत्मा सर्वस्यांतरः " इस कारण ज्ञानरूपी खड्गको लेकर देहाभिमानरूपी फांसीको काटकर सुखी हो॥२०॥

इति श्रीमदष्टावक्रमुनिविरचितायां ब्रह्मविद्यायां सान्वयभाषाटीकया सहितमात्मानुभवोपदेशवर्णनं नाम प्रथमं प्रकरणं समाप्तम् ॥ १ ॥

अथ द्वितीयं प्रकरणम् २.
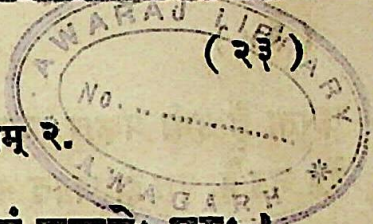
अहो निरञ्जनः शान्तो बोधोऽहं प्रकृतेः परः ।
एतावन्तमहं कालं मोहेनैव विडंबितः ॥ १ ॥

अन्वयः--अहो अहम् निरञ्जनः शान्तः प्रकृतेः परः बोधः (अस्मि) अहम् एतावन्तम् कालम् मोहेन विडंबितः एव ॥ १ ॥

श्रीगुरुके वचनरूपी अमृत पान करके उससे आत्माका अनुभव हुआ, इस कारण शिष्य अपने गुरुके प्रति आत्मानुभव कहता है कि, हे गुरो ! बड़ा आश्चर्य देखनेमें आता है कि, मैं तो निरञ्जन हूँ तथा सर्व उपाधिरहित हूँ, शांत अर्थात् सर्वविकार रहित हूँ तथा प्रकृतिसे परे अर्थात् मायाके अन्धकारसे रहित हूँ । अहो ! आजदिनपर्यन्त गुरुकी कृपा नहीं थी, इस कारण बहुत मोह था और देह--आत्माका विवेक नहीं था, इससे दुःखी था, अब आज सद्गुरुकी कृपा हुई, अतः परम आनन्दको प्राप्त हुआ हूँ ॥ १ ॥

यथा प्रकाशयाम्येको देहमेनं तथा जगत् ।
अतो मम जगत्सर्वमथवा नच किंचन ॥ २ ॥

अन्वयः--यथा (अहम्) एकः (एव) जगत् प्रकाशयामि तथा एनम् देहम् (प्रकाशयामि), अतः सर्वम् जगत् मम अथवा किंचन न ॥ २ ॥

ऊपरके श्लोकमें शिष्यने अपना मोह गुरुके पास वर्णन किया । अब गुरुकी कृपासे देह--आत्माका विवेक प्राप्त हुआ तब समाधान करता है कि, हे गुरो ! मैं जिस प्रकार स्थूलशरीरको प्रकाश

करता हूँ इसी प्रकार जगत्‌को भी प्रकाश करता हूँ इस कारण देह जड है, ऐसे ही जगत् भी जड है। यहां शंका होती है कि, शरीर जड़ और आत्मा चैतन्य है, इन दोनोंका संबंध किस प्रकार होता है ? इसका समाधान करते हैं कि भ्रांतिसे देहके विषयमें ममत्व माना है यह अज्ञानकल्पित है, देहको आदि लेकर बंधा जगत् दृश्य पदार्थ है, इस कारण मेरे विषयमें कल्पित है। फिर यदि सत्यविचार करे तो देहादिक जगत् है ही नहीं, जगत्‌की उत्पत्ति और प्रलय यह दोनों अज्ञानकल्पित हैं, इस कारण देहसे पर आत्मा शुद्ध स्वरूप है ॥ २ ॥

सशरीरमहो विश्वं परित्यज्य मयाधुना ।
कुतश्चित्कौशलादेव परमात्मा विलोक्यते ॥ ३ ॥

अन्वयः--अहो अधुना सशरीरम् विश्वम् परित्यज्य कुतश्चित् कौशलात् एव (मया) परमात्मा विलोक्यते ॥ ३ ॥

शिष्य शंका करता है कि, लिंगशरीर और कारण शरीर इन दोनोंका विवेक तो हुआ ही नहीं, फिर प्रकृतिसे परे आत्मा किस प्रकार जाना जायगा ? तब गुरु समधान करते हैं कि, लिंगशरीर, कारण शरीर तथा स्थूल शरीर सहित संपूर्ण विश्व है। मैं गुरु--शास्त्रके उपदेशके अनुसार त्याग करके और उन गुरु शास्त्रकी कृपासे चतुर्थताको प्राप्त हुआ हूं, इस कारण परम श्रेष्ठ आत्मा जाननेमें आता हैं, अर्थात् अध्यात्म (वेदान्त) विद्या प्राप्त हुई है ॥ ३ ॥

यथा न तोयतो भिन्नास्तरङ्गाः फेनबुद्बुदाः ।
आत्मनोनतथाभिन्नंविश्वमात्मविनिर्गतम् ॥ ४ ॥

अन्वयः–यथा तोयतः तरंगाः फेनबुद्बुदाः भिन्नाः न तथा आत्मविनिर्गतम् आत्मनः भिन्नम् न ॥ ४ ॥

शरीर तथा जगत् आत्मासे भिन्न होगा तो द्वैतभाव सिद्ध हो जायगा, ऐसी शिष्यकी शंका करनेपर उसके उत्तरमें दृष्टांत कहते हैं कि, जिस प्रकार तरंग, झाग बुलबुले जलसे अलग नहीं होते हैं, परंतु उन तीनोंका कारण एक जलमात्र है, इसी प्रकार त्रिगुणात्मक जगत् आत्मासे उत्पन्न हुआ है, आत्मासे भिन्न नहीं है, जिस प्रकार तरंग, झाग और बुलबुलोंमें जल व्याप्त है, ऐसेही सर्व जगत्में आत्मा व्यापक है, आत्मासे भिन्न कुछ नहीं है ॥ ४ ॥

तंतुमात्रो भवेदेव पटो यद्वद्विचारितः ।
आत्मतन्मात्रमेवेदं तद्वद्विश्वं विचारितम् ॥ ५ ॥

अन्वयः–यद्वत् विचारितः पटः तंतुमात्रः एव भवेत् तद्वत् विचारितम् इदम् विश्वम् आत्मा आत्मतन्मात्रम् एव ॥ ५ ॥

सर्व जगत् आत्मस्वरूप है, उसके निरूपण करनेके अर्थ दूसरा दृष्टांत कहते हैं कि, विचार दृष्टिके विना देखे तो वस्त्र सूत्रसे पृथक् प्रतीत होता है, परंतु विचारदृष्टिसे देखनेपर वस्त्र सूत्ररूपही है, इसी प्रकार अज्ञानदृष्टिसे जगत् ब्रह्मसे भिन्न प्रतीत होता है, परंतु शुद्धविचारपूर्वक देखनेसे संपूर्ण जगत् आत्मरूपही है ।

सिद्धांत यह है कि, जिस प्रकार वस्त्रमें सूत्र व्यापक है. इसी प्रकार जगत्में ब्रह्म व्यापक है ॥ ५ ॥

यथैवेक्षुरसे क्लृप्ता तेन व्याप्तैव शर्करा ।
तथाविश्वंमयिक्लृप्तंमयाव्याप्तंनिरंतरम्॥६ ॥

अन्वयः—यथा इक्षुरसे क्लृप्ता शर्करा तेन एव व्याप्ता तथा एव मयि क्लृप्तम् विश्वम् निरंतरं मया व्याप्तम् ॥ ६ ॥

आत्मा संपूर्ण जगत्में व्यापक है । इस विषयमें तीसरा दृष्टांत दिखाते हैं—जिस प्रकार इक्षु (पौंडाके) रसके विषयमें शर्करा रहती है और शर्कराके विषे रस व्याप्त है, इसी प्रकार परमानंद रूप आत्माके विषे जगत् अध्यस्त है और जगत्के विषे निरंतर आत्मा व्याप्त है, इस कारण विश्व भी आनंदस्वरूपही है । उ[illegible] करके "अस्ति, भाति, प्रियम्" इस प्रकार आत्मा सर्वत्र व्याप्त है॥ ६ ॥

आत्माज्ञानाज्जगद्भातिआत्मज्ञानान्न भासते ।
रज्ज्वज्ञानादहिर्भातितज्ज्ञानाद्भासतेनहि ॥७ ॥

अन्वयः—जगत् आत्माज्ञानात् भाति आत्मज्ञानात् न भासते हि रज्ज्वज्ञानात् अहिः भाति तज्ज्ञानात् न हि भासते ॥ ७ ॥

शिष्य प्रश्न करता है कि, हे गुरो ! यदि जगत् आत्मासे भिन्न नहीं है तो भिन्न प्रतीत किस प्रकार होता है ? तब गुरु उत्तर देते हैं कि, जब आत्मज्ञान नहीं होता है, तब जगत् भासता है और जब आत्मज्ञान हो जाता है तब जगत् कोई वस्तु नहीं है।

यहां दृष्टांत दिखाते हैं कि, जिस प्रकार अंधकारमें पड़ी हुई रज्जु भ्रमसे सर्प प्रतीत होने लगता है । जब दीपकका प्रकाश होता है तब निश्चय हो जाता है कि, यह सर्प नहीं है ॥ ७ ॥

प्रकाशो मे निजंरूपं नातिरिक्तोऽस्म्यहं ततः ।
यदाप्रकाशते विश्वं तदाहं भासएव हि ॥ ८ ॥

अन्वयः—प्रकाशः मे निजम् रूपम्, अहं ततः अतिरिक्तः न अस्मि, हि यदा विश्वं प्रकाशते तदा अहं भासः एव ॥ ८ ॥

जिसको आत्मज्ञान नहीं होता है उसको प्रकाश भी नहीं होता है, फिर जगत्की प्रतीति किस प्रकार होती है ? इस प्रश्नका उत्तर कहते हैं कि--नित्यबोधरूप प्रकाश मेरा (आत्मका) स्वाभाविक स्वरूप है । इस कारण मैं (आत्मा) प्रकाशसे भिन्न नहीं हूँ । यहां शंका होती है कि, आत्मचैतन्य जब जगत्का प्रकाश है तो उसको अज्ञान किस प्रकार रहता है ? उसका समाधान यह है कि--जिस प्रकार स्वप्नमें चैतन्य अविद्याकी उपाधिसे कल्पित विषयसुखको सत्य मानते हैं उससे चैतन्यमें किसी प्रकारका बोध नहीं होता है । आत्मचैतन्य सर्वकालमें है । परन्तु गुरुके मुखसे निश्चयपूर्वक समझे विना अज्ञानकी निवृत्ति नहीं होती है और "आत्मा सत्य है" यह वार्ता वेदादि शास्त्र-संमत है, अर्थात् जगत्को आत्मा प्रकाश करता है यह सिद्धांत है ८

अहो विकल्पितं विश्वमज्ञानान्मयि भासते ।
रूप्यंशुक्तौ फणी रज्जौ वारि सूर्यकरे यथा॥९॥

अन्वयः-अहो यथा शुक्तौ रूप्यम्, रज्जौ फणी, सूर्यकरे वारि (तथा) अज्ञानात् विकल्पितम् विश्वम् मयि भासते ॥ ९ ॥

शिष्य विचार करता है कि, मैं स्वप्रकाश हूँ तथापि अज्ञानसे मेरे विषे विश्व भासता है, यह बड़ा ही आश्चर्य है ! तिसका दृष्टांतके द्वारा समाधान करते हैं कि, जिस प्रकार भ्रांतिसे सीपीमें रजतकी प्रतीति होती है,जिस प्रकार रज्जुमें सर्पकी प्रतीति होती है और जिस प्रकार सूर्यकी किरणोंमें जलकी प्रतीति होती है इसी प्रकार अज्ञानसे कल्पित विश्व मेरे विषे भासता है ॥ ९ ॥

मत्तो विनिर्गतं विश्वं मय्येव लयमेष्यति ।
मृदिकुम्भो जलेवीचिः कनके कटकं यथा॥१०॥

अन्वयः-(इदम्) विश्वं मत्तः विनिर्गतम्, मयि एव लयम् एष्यति यथा कुम्भः मृदि, वीचिः जले, कटकं कनके ॥ १० ॥

शिष्य शंका करता है; कि सांख्यशास्त्रवालोंके मतानुसार तो जगत् मायाका विकार है, इस कारण जगत् मायाके सकाशसे उत्पन्न होता है और अंतमें मायाके विषे ही लीन हो जाता है और आत्मा सकाशसे उत्पन्न नहीं होता है ? इस शंकाका गुरु समाधान करते हैं कि, यह मायासहित जगत् आत्माके प्रकाशसे उत्पन्न हुआ है और अंतमें मायाके विषेही लीन होगा । यहां दृष्टांत

ते हैं कि, जिस प्रकार घट मृत्तिकामेंसे उत्पन्न होता है और अंतमें मृत्तिकाके विषेही लीन हो जाता है और अंतमें जलके विषेही लीन हो जाते हैं तथा जिस प्रकार कटक कुण्डलादि सुवर्णमेंसे उत्पन्न होते हैं और सुवर्णमें ही अंतमें लीन हो जाते हैं, इसी प्रकार मायासहित जगत् आत्माके सकाशसे उत्पन्न होता है और अंतमें मायाके विषे ही लीन हो जाता है। यही श्रुतिमें भी कहा है— "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रय-न्त्यभिसंविशन्ति" ॥ १० ॥

अहो अहंनमो मह्यं विनाशो यस्य नास्ति मे ।
ब्रह्मादिस्तम्बपर्यंतं जगन्नाशेऽपि तिष्ठतः ॥११॥

अन्वयः—अहो अहम् ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तम् (यत्) जगत् (तस्य) नाशे अपि यस्य मे विनाशः न अस्ति (तस्मै) मह्यम् नमः ॥ ११ ॥

शिष्य शंका करता है कि, यदि जगत्का उपादान कारण ब्रह्म होगा तब तो ब्रह्मके विषे अनित्यता आवेगी, जिस प्रकार घट फूटता है और मृत्तिका फूटता है और मृत्तिका बिखर जाती है, इसी प्रकार जगत्के नष्ट होनेपर ब्रह्मभी छिन्न भिन्न (विनाशी) हो जायगा ? इस शंकाका समाधान करते हुए गुरु कहते हैं कि, मैं (आत्मा ब्रह्म) संपूर्ण उपादान कारण हूँ, तो भी मेरा नाश नहीं होता है, यह बड़ा आश्चर्य है। सुवर्ण कटक और कुण्डलका उपादान कारण होता है और कटक, कुण्डलके टूटनेपर सुवर्ण

विकारको प्राप्त होता है, परंतु मैं तो जगत्का विवर्ताधिष्ठान अर्थात् जिस प्रकार रज्जुमें सर्पकी भ्रांति होनेपर सर्प विव कहाता है और रज्जु अधिष्ठान कहाता है इसी प्रकार दूधका दा वास्तविक अन्यथाभाव (परिणाम) होता है, उस प्रकार जग मेरा परिणाम नहीं है, मैं संपूर्ण जगत्का कारण और अविनाश हूँ, इस कारण मैं अपने स्वरूप (आत्मा) को नमस्कार करत हूँ। प्रलयकालमें ब्रह्मासे लेकर तृणपर्यंत संपूर्ण जगत् नाशके प्राप्त हो जाता है, परंतु मेरा (आत्माका) नाश नहीं होता है इस विषयमें श्रुतिका भी प्रमाण है "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" अर्था ब्रह्म सत्य है, ज्ञानरूप है और अनंत है ॥ ११ ॥

अहो अहं नमो मह्यमेकोऽहं देहवानपि ।
क्वचिन्न गन्तानागन्ता व्याप्य विश्वमवस्थितः ॥१२

अन्वयः—अहो अहम् (तस्मै) मह्यम् नमः (यत्) देहवान् अपि एक अहम् विश्वम् व्याप्य अवस्थितः न क्वचित् गन्ता न आगन्ता ॥ १२ ।

शिष्य शंका करता है कि, सुखदुःखरूपी देहयुक्त आत्मा अने करूप है । इस कारण जाता है और आता है, फिर आत्माकी सर्वव्यापकता किस प्रकार सिद्ध होगी ? इसका गुरु समाधान करते हैं मैं बड़ा आश्चर्यरूप हूं इस कारण मैं अपने (आत्मा) को नमस्कार करता हूँ । तब शिष्य प्रश्न करता है कि—क्या आश्चर्य है ? इसका गुरु उत्तर देते हैं कि—मैं (आत्मा) नाना प्रकारके

शरीरोंमें निवास करके नाना प्रकारके सुख दुःखको भोगता हूं। तथापि मैं एकरूप हूँ। यहां दृष्टांत दिखाते हैं कि जिस प्रकार जलसे भरे हुए अनेक पात्रोंमें स्थित जलके विषे शीत, उष्ण, सुगंध, दुर्गंध, शुद्ध, अशुद्ध इत्यादि अनेक उपाधियां रहती हैं और उन अनेकों पात्रोंमें भिन्न सूर्यके प्रतिबिंब पड़ते हैं, तथापि वह सूर्य एकही होता है और जलकी शीत, उष्णादि उपाधियोंसे रहित होता है, इसी प्रकार मैं संपूर्ण विश्वमें व्याप रहा हूँ, तथापि जगत्की संपूर्ण उपाधियोंसे हूँ, अर्थात् कोई नहीं आता है और "जाता है, आता है" इस प्रकारकी जो प्रतीति है सो अज्ञानवश हैं, वास्तवमें नहीं है ॥ १२ ॥

अहो अहं नमो मह्यं दक्षो नास्तीह मत्समः।
असंस्पृश्य शरीरेणयेन विश्वं चिरं धृतम् ॥ १३ ॥

अन्वयः—अहम् अहो (तस्मै) मह्यम् नमः इह मत्समः (कोऽपि) दक्षः न अस्ति, येन शरीरेण असंस्पृश्य (मया) चिरम् विश्वम् धृतम् ॥ १३ ॥

शिष्य शंका करता है कि, जिस आत्माका देहसे संग है; वह असंग किस प्रकार हो सकता है ? इसका गुरु समाधान करते हैं कि, मैं आश्चर्यरूप हूँ, इस कारण मेरे अर्थ नमस्कार है, क्योंकि इस जगत्में मेरे समान कोई चतुर नहीं है, अर्थात् अघटितघटना करनेमें मैं चतुर हूँ, क्योंकि मैं शरीरमें रहकर भी शरीरसे स्पर्श नहीं करता हूँ और शरीरकार्य करता हूँ, जिस प्रकार अग्नि घृतके

पिंडमें लीन न होकर भी घृतपिंडको गलाकर रसरूप कर देता है उसी प्रकार संपूर्ण जगत्में मैं लीन नहीं होता हूं और संपूर्ण जगत्को चिरकाल धारण करता हूँ ॥ १३ ॥

अहो अहं नमो मह्यं यस्य मे नास्ति किञ्चन ।
अथवा यस्य मे सर्वं यद्वाङ्मनसगोचरम् ॥ १४ ॥

अन्वयः—अहो अहम् यस्य मे (परमार्थतः) किञ्चन न अस्ति, अथवा यत् वाङ्मनसगोचरम् (तत्) सर्वम् यस्य मे (सम्बन्धि अस्ति अतः) मह्यं नमः ॥ १४ ॥

शिष्य शंका करता है कि, हे गुरो ! संबंधके विना जगत् किस प्रकार धारण होता है ? भीत गृहकी छत आदिको धारण करती है, परंतु काष्ठ आदिसे उसका सम्बन्ध होता है, सो आत्मा विना सम्बन्धके जगत्को किस प्रकार धारण करता है ? इसका गुरु समाधान करते हैं कि--अहो ! मैं बड़ा आश्चर्यरूप हूँ, इस कारण अपने स्वरूपको नमस्कार करता हूं ! आश्चर्यरूपता दिखाते हैं कि, परमार्थदृष्टिसे देखो तो मेरा किसीसे सम्बन्ध नहीं है और विचार दृष्टिसे देखो तो मुझसे भिन्न भी कोई नहीं है और यदि सांसारिक दृष्टिसे देखो तो जो जो कुछ मन वाणीसे विचारा जाता है वह सब मेरा संबन्धी है, परंतु वह मिथ्या संबन्ध है । जिस प्रकार सुवर्ण तथा कुण्डलका सम्बन्ध है, इसी प्रकार मेरा और जगत्का सम्बन्ध है, अर्थात् मेरा सबसे संबन्ध है भी और नहीं भी है, इस कारण आश्चर्यरूप जो मैं हूं, सो मेरे अर्थ नमस्कार है ॥ १४ ॥

ज्ञानं ज्ञेयं तथा ज्ञाता त्रितयं नास्ति वास्तवम् ।
अज्ञानाद्भाति यत्रेदं सोहमस्मि निरञ्जनः ॥ १५ ॥

अन्वयः—ज्ञानम्, ज्ञेयं तथा ज्ञाता (इदम्) त्रितयम् वास्तवं न अस्ति, यत्र इदम् अज्ञानात् भाति सः अहं निरञ्जनः अस्मि ॥ १५ ॥

त्रिपुटीरूप जगत् तो सत्यसा प्रतीत होता है, फिर जगत्का और आत्माका मिथ्या संबंध किस प्रकार कहा ? इस शिष्यकी शंकाका गुरु समाधान करते हैं कि—ज्ञान, ज्ञेय तथा ज्ञाता इन तीनोंका इकट्ठा नाम " त्रिपुटी " है, वह त्रिपुटी वास्तविक अर्थात् सत्य नहीं है । उस त्रिपुटीका जिस मेरे (आत्माके) विषे मिथ्या सम्बन्ध अर्थात् अज्ञानसे प्रतीत है, वह मैं अर्थात् आत्मा तो निरंजन (संपूर्ण प्रपंचसे रहित) हूँ ॥ १५ ॥

द्वैतमूलमहो दुःखं नान्यत्तस्यास्ति भेषजम् ।
दृश्यमेतन्मृषासर्वमेकोऽहं चिद्रसोऽमलः ॥ १६ ॥

अन्वयः—अहो (निरंजनस्य अपि आत्मनः) द्वैतमूलम् दुःखम् (भवति) तस्य भेषजम् एतत् दृश्यम् सर्वम् मृषा । अहम् एकः अमलः चिद्रसः (इति बाधात् अन्यत्) न अस्ति ॥ १६ ॥

शिष्य शंका करता है कि—यदि आत्मा निरंजन है तो दुःखका सम्बन्ध किस प्रकार होता है?इसका गुरु समाधान करते हैं कि—सुख दुःख भ्रांतिमात्र हैं, वास्तविक नहीं । निरंजन आत्माके विषे द्वैतमात्रसे सुख दुःख भासता है । वास्तवमें आत्माके विषे

सुख दुःख कुछ भी नहीं होता है। फिर शिष्य प्रश्न करता है कि, हे गुरो! द्वैतभ्रमकी निवृत्ति कैसी होती है ? इसका गुरु उत्तर देते हैं कि, हे शिष्य ! मैं आत्मा हूँ। अमल हूँ। माया और मायाका कार्य जो जगत् है उससे रहित चिन्मात्र अद्वितीयरूप हूँ और दृश्यमान यह संपूर्ण संसार जड़ और मिथ्या है सत्य नहीं है। ऐसा ज्ञान होनेसे द्वैत नष्ट हो जाता है। इसके विना द्वैत-भ्रमसे उत्पन्न हुए दुःखके दूर करनेकी अन्य ओषधि नहीं है ॥ १६ ॥

बोधमात्रोऽहमज्ञानादुपाधिः कल्पितो मया।
एवं विमृशतो नित्यं निर्विकल्पे स्थितिर्मम॥१७॥

अन्वयः-अहम् बोधमात्रः, मया अज्ञानात् उपाधिः कल्पितः, एवम् विमृशतः मम निर्विकल्पे नित्यं स्थितिः (प्रजाता) ॥ १७ ॥

शिष्य प्रश्न करता है कि,आत्माके विषे द्वैत प्रपंचका अध्यास किस प्रकार हुआ है और वह कल्पित है या वास्तविक है ? इसका गुरु समाधान करते हैं कि, मैं बोधरूप हूँ। चैतन्यरूप हूँ। परंतु मैंने अपने विषे अज्ञानसे उपाधि (अहंकारादिद्वैतप्रपंच) कल्पना किया है, अर्थात् मैं अखंडानंद ब्रह्म नहीं हूँ, किंतु देह हूँ, यह माना ह। इस कारण नित्य विचार करके मेरी निर्विकल्प अर्थात् वास्तविक निजस्वरूप (ब्रह्म) के विषे स्थिति हुई है १७

नमेबंधोस्तिमोक्षोवाभ्रांतिः शान्तानिराश्रया।
अहोमयिस्थितंविश्वंवस्तुतोनमयिस्थितम्॥१८॥

अन्वयः--मे बन्धः वा मोक्षो न अस्ति अहो मयि स्थितम् (अपि) विश्वं वस्तुतः मयि स्थितम् (इति विचारतः अपि) निराश्रया भ्रांतिः (एव) शान्ता ॥ १८ ॥

शिष्य शंका करता है कि—हे गुरो ! यदि केवल विचार करने-हीसे मुक्ति होती है, तब तो मुक्तिका विनाश होना चाहिये, क्योंकि जब विचार नष्ट होता है तब मुक्तिका भी नाश होना चाहिये और यदि कहो कि, विचारके विना ही मुक्ति हो जाती है, तब तो गुरु और शास्त्रके उपदेशको प्राप्त न होनेवाले पुरुषोंको भी मुक्ति होनी चाहिये ? इसका गुरु समाधान करते हैं कि, यदि शुद्ध विचारकी दृष्टिसे देखो तो मुझे बंध नहीं है और मोक्ष भी नहीं है अर्थात् विचारदृष्टिसे न आत्माका बन्ध होता है, न मोक्ष होता है, क्योंकि मैं (आत्मा) नित्य चित्स्वरूप हूँ । फिर शिष्य शंकित होकर प्रश्न करता है कि, हे गुरो ! वेदान्तशास्त्र—विचारका जो फल है सो कहिये ? तब गुरु कहते हैं कि, भ्रान्तिकी निवृत्ति ही वेदान्तशास्त्रके विचारका फल है, क्योंकि बड़ा आश्चर्य है ! जो मेरे विषे स्थित भी जगत् वास्तवमें मेरे विषे स्थित नहीं है, इस प्रकार विचार करनेपर भी भ्रांतिमात्र नष्ट हुई, परमानन्दकी प्राप्ति नहीं हुई, इससे प्रतीत होता है कि, भ्रांतिकी निवृत्ति ही शास्त्रविचारका फल है। तब शिष्य कहता है कि—हे गुरो ! भ्रांति कैसी थी, जो विचार करनेपर तुरन्त ही नष्ट हो गई ? इसका

गुरु उत्तर देते हैं कि, भ्रांति निराश्रय अर्थात् अज्ञानरूप थी, सो विचारसे नष्ट हो गई ॥ १८ ॥

सशरीरमिदं विश्वं नकिञ्चिदिति निश्चितम् ।
शुद्धचिन्मात्रआत्माचतत्कस्मिन्कल्पनाधुना १९

अन्वयः--इदम् शरीरं विश्वं किञ्चित् न इति निश्चितम्, आत्मा च शुद्धचिन्मात्रः, तत् अधुना कल्पना कस्मिन् (स्यात्) ॥ १९ ॥

शिष्य शंका करता है कि--उस मुक्त पुरुषके विषे भी प्रपंचका उदय होना चाहिये, क्योंकि रज्जु होती है तो उसमें कभी अंधकारके विषे द्वैत सर्पकी भ्रांति हो ही जाती है, इसी प्रकार अधिष्ठान जो ब्रह्म है उसके विषे द्वैत (प्रपंच) की कल्पना हो जाती है । इस शंकाका गुरु समाधान करते हैं कि, यह शरीरसहित संपूर्ण जगत् जो प्रतीत होता है सो कुछ नहीं है, अर्थात् न सत् है, न असत् है, क्योंकि सब ब्रह्मरूप है । यही श्रुतिमें भी कहा है-- " नेह नानास्ति किञ्चन " अर्थात् यह संपूर्ण जगत् ब्रह्मरूप ही है, आत्मा शुद्ध अर्थात् मायारूपी मलरहित चित्स्वरूप है, इस कारण किस अधिष्ठानमें विश्वकी कल्पना होती है ? ॥ १९ ॥

शरीरं स्वर्गनरकौ बन्धमोक्षौ भयं तथा ।
कल्पनामात्रमेवैतत्किंमेकार्यंचिदात्मनः ॥२०॥

अन्वयः-शरीरम्, स्वर्गनरकौ, बन्धमोक्षौ तथा भयम् एतत् कल्पनामात्रमेव । चिदात्मनः मे (मम) किम् कार्यम् ॥ २० ॥

शिष्य शंका करता है कि—हे गुरो ! यदि संपूर्ण प्रपंच मिथ्या है तब तो ब्राह्मणादि वर्ण और मनुष्यादि जाति भी अवास्तविक होंगे और वर्णजातिके अर्थ प्रवृत्त होनेवाले विधि-निषेधशास्त्रोंके विषे वर्णन किये हुए स्वर्ग नरक तथा स्वर्गके विषे प्रीति और नरकका भय भी अवास्तविक हो जायँगे और शास्त्रोंके विषे वर्णन किये हुए बंध मोक्ष भी अवास्तविक अर्थात् मिथ्या हो जायँगे। इसका गुरु समाधान करते हैं कि, हे शिष्य ! तूने जो शंका की सो शरीर, स्वर्ग, नरक, बंध, मोक्ष तथा भय आदि संपूर्ण मिथ्या हैं। इन शरीरादिके साथ सच्चिदानंद-स्वरूप जो मैं हूँ सो मुझमें कोई नहीं है; क्योंकि, संपूर्ण विधिनि-षेधरूप कार्य अज्ञानी पुरुषको होते हैं, ब्रह्मज्ञानीको नहीं॥२०॥

अहो जनसमूहेऽपि न द्वैतं पश्यतो मम।
अरण्यमिव संवृत्तं क्व रतिं करवाण्यहम्॥२१॥

अन्वयः—अहो न द्वैतम् पश्यतः मम जनसमूहे अपि अरण्यम् इव संवृत्तम्, अहम् क्व रतिं करवाणि ॥ २१ ॥

अब इस प्रकार वर्णन करते हैं कि, जिस प्रकार स्वर्ग, नरक आदिको अवास्तविक वर्णन किया इसी प्रकार यह लोक भी अवास्तविक है। इस कारण इस लोकमें मेरी प्रीति नहीं होती है। बड़े आश्चर्यकी वार्ता है कि, मैं जनसमूहमें निवास करता हूं।

परंतु मेरे मनको वह जनसमूह अरण्यसा प्रतीत होता है । सो मैं इस अवास्तविक(मिथ्याभूत)संसारके विषे क्या प्रीति करूं ? ॥२१॥

नाहं देहो न मे देहो जीवो नाहमहं हि चित् ।
अयमेव हि मे बन्ध आसीद्या जीविते स्पृहा ॥२२

अन्वयः--अहम् देहः न, मे देहः न, अहम् न जीवः, हि अहम् चित् मे अयम् एव हि बन्धः--या जीविते स्पृहा आसीत् ॥ २२ ॥

शिष्य शंका करता है कि, हे गुरो ! पुरुष " शरीरके विषे मैं हूं, मेरा है " इत्यादि व्यवहार करके प्रीति करता है । इस कारण शरीरके विषे तो स्पृहा करनीही होगी । इसका समाधान करते हैं कि, देह मैं नहीं हूँ, क्योंकि, देह जड़ है और देह मेरा नहीं है । क्योंकि, मैं तो असंग हूँ और जीव जो अहंकार सो मैं नहीं । यहां शंका होती है कि, तू कौन है ? उसके उत्तरमें कहते हैं कि, मैं तो चैतन्यस्वरूप ब्रह्म हूं । फिर शंका होती है कि, यदि आत्मा चैतन्यस्वरूप है, देहादिरूप जड़ नहीं है तो फिर ज्ञानी पुरुषोंकी भी जीवनमें इच्छा क्यों होती है ? इसका समाधान करते हैं कि, यह जीनेकी जो इच्छा है वही बंधन है, दूसरा बंधन नहीं है । क्योंकि, पुरुष जीवनके निमित्तही सुवर्णकी चोरी आदि अनेक प्रकारके अनर्थ करके कर्मानुसार संसारबंधनमें बँधता है और सच्चिदानंदस्वरूप आत्माके वास्तविक स्वरूपका ज्ञान होनेपर पुरुषकी जीवनमें स्पृहा नहीं रहती है ॥ २२ ॥

अहो भुवनकल्लोलैर्विचित्रैर्द्राक्समुत्थितम्।
मय्यनन्तमहाम्भोधौ चित्तवाते समुद्यते ॥२३॥

अन्वयः—अहो अनन्तमहाम्भोधौ मयि चित्तवाते समुद्यते विचित्रैः भुवनकल्लोलैः द्राक्समुत्थितम् ॥ २३ ॥

जब पुरुषको सबके अधिष्ठानरूप आत्मस्वरूपका ज्ञान होता है, तब कहता है कि, अहो! बड़े आश्चर्यकी वार्ता है कि, मैं चैतन्यसमुद्रस्वरूप हूं और मेरे विषे चित्तरूपी वायुके योगसे नानाप्रकारके ब्रह्मांडरूपी तरंग उत्पन्न होते हैं। अर्थात् जिस प्रकार जलसे तरंग भिन्न नहीं होते हैं। इसी प्रकार ब्रह्मांड मुझसे भिन्न नहीं है ॥ २३ ॥

मय्यनन्तमहाम्भोधौ चित्तवाते प्रशाम्यति।
अभाग्याज्जीववणिजो जगत्पोतो विनश्वरः॥२४॥

अन्वयः—अनन्तमहाम्भोधौ मयि चित्तवाते प्रशाम्यति (सति) जीववणिजः अभाग्यात् जगत्पोतः विनश्वरः (भवति)॥ २४॥

अब प्रारब्ध कर्मोंके नाशकी अवस्था दिखाते हैं कि—मैं सर्वव्यापक चैतन्यस्वरूपसमुद्र हूं, उस मेरे विषे चित्तवायु अर्थात् संकल्पविकल्पात्मक मनरूप वायुके शांत होनेपर अर्थात् संकल्पादिसे रहित होनेपर जीवात्मारूप व्यापारीके अभाग्य कहिये प्रारब्धके नाशरूप विपरीत पवनसे जगत्—समुद्रके विषे लगा हुआ शरीर–आदिरूप नौकाका समूह विनाशवान् होता है ॥ २४ ॥

मय्यनन्तमहाम्भोधावाश्चर्यं जीववीचयः ।
उद्यन्तिघ्नन्तिखेलन्तिप्रविशंतिस्वभावतः ॥२५॥

अन्वयः—आश्चर्यम् (यत्) अनन्तमहाम्भोधौ मयि जीववीचय स्वभावतः उद्यन्ति, घ्नन्ति, खेलन्ति, प्रविशन्ति ॥ २५ ॥

अब संपूर्ण प्रपञ्चको मिथ्या जानकर कहते हैंः—आश्चर्य है कि, निष्क्रिय निर्विकार मुझ चैतन्यसमुद्रके विषे अविद्याकाम-कर्मरूप स्वभावसे जीवरूपी तरंग उत्पन्न होते हैं और परस्पर शत्रुभावसे ताड़न करते हैं और कोई मित्रभावसे परस्पर क्रीड़ा करते हैं और अविद्याकामकर्मके नाश होनेपर मेरे विषे लीन हो जाते हैं। अर्थात् जीवरूपी तरंग अविद्याबन्धनसे उत्पन्न वास्तवमें चिद्रूप हैं। जिस प्रकार घटाकाश महाकाशमें लीन हो जाता है। इसी प्रकार मेरे विषे सम्पूर्ण जीव लीन हो जाते हैं। वही ज्ञान है ॥ २५ ॥

इति श्रीमदष्टावक्रमुनिविरचितायां ब्रह्मविद्यायां सान्वयभाषाटीकया सहितं शिष्येणोक्तमात्मानुभवोल्लासपञ्चविंशतिकं नाम द्वितीयं प्रकरणं समाप्तम् ॥ २ ॥

अथ तृतीयं प्रकरणम् ३.

अविनाशिनमात्मानमेकं विज्ञाय तत्त्वतः ।
तवात्मज्ञस्य धीरस्य कथमर्थार्जने रतिः ॥ १ ॥

अन्वयः-(हे शिष्य !) अविनाशिनम् एकम् आत्मानम् विज्ञाय तत्त्वतः आत्मज्ञस्य धीरस्य तव अर्थार्जने रतिः कथम् (लक्ष्यते) ॥ १ ॥

आत्मज्ञानके अनुभवसे युक्त भी अपने शिष्यको व्यवहारमें स्थित देखकर उसके आत्मज्ञानानुभवकी परीक्षा करनेके निमित्त उसकी व्यवहारके विषे स्थितिकी निन्दा करके आत्मानुभवात्मक स्थितिका उपदेश करते हैं कि, हे शिष्य ! अविनाशी अर्थात् त्रिकालमें सत्यस्वरूप आत्माको किसी देशकालमें भेदको नहीं प्राप्त होनेवाला जानकर यथार्थरूपसे आत्मज्ञानी धैर्यवान् जो तू है सो तेरी व्यावहारिक अर्थके संग्रह करनेमें प्रीति किस कारण देखनेमें आती है ? ॥ १ ॥

आत्माज्ञानादहो प्रीतिर्विषयभ्रमगोचरे ।
शुक्तेरज्ञानतो लोभो यथा रजतविभ्रमे ॥ २ ॥

अन्वयः-अहो (शिष्य !) यथा शुक्तेः अज्ञानतः रजतविभ्रमे लोभः (भवति तथा) आत्माज्ञानात् विषयभ्रमगोचरे प्रीतिः (भवति) ॥ २ ॥

विषयके विषे जो प्रीति होती है सो आत्माके अज्ञानसे होती, इस वार्ताको दृष्टान्त और युक्तिपूर्वक दिखाते हैं-अहो शिष्य ! जिस प्रकार सीपीका अज्ञान होनेसे रजतकी भ्रान्ति करके लोभ

होता है, इसी प्रकार आत्माके अज्ञानसे भ्रान्ति होनेसे प्रती होनेवाले विषयोंमें प्रीति होती है। जिनको आत्मज्ञान होता उन ज्ञानियोंकी विषयोंमें कदापि प्रीति नहीं होती है ॥ २ ॥

विश्वं स्फुरति यत्रेदं तरङ्गा इव सागरे ।
सोऽहमस्मीति विज्ञाय किं दीन इव धावसि ॥ ३

अन्वयः–सागरे तरंगा इव यत्र इदम् विश्वम् स्फुरति सः अहम् अ इति विज्ञाय दीनः इव किं धावसि ॥ ३ ॥

ऊपर इस प्रकार कहा है कि, विषयोंके विषे जो प्रीति हो है सो अज्ञानसे होती है, अब इस वार्ताका वर्णन करते हैं वि सम्पूर्ण अध्यस्तको अधिष्ठानभूत जो आत्मा है, उसके जानने फिर विषयोंके विषे प्रीति नहीं होती है, जिस प्रकार समुद्रके वि तरंग स्फुरते हैं अर्थात् अभिन्नरूप होते हैं उसी प्रकार जि आत्माके विषे यह विश्व अभिन्नरूप है वह " निर्विशेष आत मैं हूँ " इस प्रकार साक्षात् करके दीन पुरुषके समान " मैं और मेरा है " इत्यादि अभिमानकरके क्यों दौड़ता है ? ॥ ३

श्रुत्वापि शुद्धचैतन्यमात्मानमतिसुन्दरम् ।
उपस्थेऽत्यन्तसंसक्तो मालिन्यमधिगच्छति ॥ ४

अन्वयः–शुद्धचैतन्यम् अतिसुन्दरम् आत्मानम् श्रुत्वा अपि उपस् अत्यन्तसंसक्तः (आत्मज्ञः) मालिन्यम् अधिगच्छति ॥ ४ ॥

ऊपरके तीन श्लोकोंमें शिष्यकी व्यवहारावस्थाकी निन्दा की, अब सम्पूर्ण ज्ञानियोंकी व्यवहारावस्थामें स्थितिकी निन्दा करते हैं कि, गुरुके मुखसे वेदान्तवाक्योंसे अति सुन्दर शुद्ध चैतन्य आत्माको श्रवण करके तथा साक्षात् करके तदनन्तर समीपस्थ विषयोंके विषे प्रीति करनेवाला आत्मज्ञानी मालिन्य अर्थात् मूढपनेको प्राप्त हो जाता है ॥ ४ ॥

सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
मुनेर्जानत आश्चर्यं ममत्वमनुवर्त्तते ॥ ५ ॥

अन्वयः—सर्वभूतेषु च आत्मानम् आत्मनि च सर्वभूतानि जानतः मुनेः (विषयेषु) ममत्वम् अनुवर्त्तते (इति) आश्चर्यम् ॥ ५ ॥

फिर भी ज्ञानीके विषयोंमें प्रीति करनेकी निन्दा करते हैं कि, ब्रह्मसे लेकर तृणपर्यंत संपूर्ण प्राणियोंके विषे अधिष्ठानरूपसे आत्मा विद्यमान है और संपूर्ण प्राणी आत्माके विषे अध्यस्त अर्थात् कल्पित हैं जिस प्रकार कि, रज्जुके विषे सर्प कल्पित होता है, इस प्रकार जानते हुए भी मुनिकी विषयोंके विषे ममता होती है, यह बड़ा ही आश्चर्य है, क्योंकि सीपीके विषे रजतको कल्पित जानकर भी ममता करनी मूर्खता ही होती है ॥ ५ ॥

आस्थितःपरमाद्वैतं मोक्षार्थेऽपि व्यवस्थितः।
आश्चर्यं कामवशगोविकलःकेलिशिक्षया ॥ ६ ॥

अन्वयः—परमाद्वैतम् आस्थितः (तथा) मोक्षार्थे व्यवस्थितः अपि कामवशगः (सन्) केलिशिक्षया विकलः (दृश्यते इति) आश्चर्यम ॥ ६ ॥

आत्मज्ञानीका विषयोंके विषे प्रीति करनेकी निन्दा करते हु कहते हैं कि, परम अद्वैत अर्थात् सजातीयस्वगतभेदशून्य जो ब्रव उसका आश्रय और मोक्षरूपी सच्चिदानन्दस्वरूप विषे निवास क नेवाला पुरुष कामवश होकर नाना प्रकारके क्रीड़ाके अभ्यासवे अर्थात् नाना प्रकारके विषयोंमें लवलीन होकर विकल देखने आता है, यह बड़ा ही आश्चर्य है ॥ ६ ॥

उद्भूतं ज्ञानदुर्मित्रमवधार्यातिदुर्बलः ।
आश्चर्यं काममाकांक्षेत्कालमंतमनुश्रितः ॥७॥

अन्वयः—अन्तं कालम् अनुश्रितः अतिदुर्बलः (ज्ञानी) उद्भूतं ज्ञा दुर्मित्रम् अवधार्य (अपि) कामम् आकांक्षेत (इति) आश्चर्यम् ॥ ७

अब इस वार्ताका वर्णन करते हैं, कि विवेकी पुरुषको सर्वथ विषयवासनाका त्याग करना चाहिये-उद्भूत कहिये उत्पन्न होनेवाल जो काम है वह महाशत्रु है,क्योंकि ज्ञानको नष्ट करनेवाला है, ऐ विचार करके भी अतिदीन होकर ज्ञानी विषयभोगकी आकांक्ष करता है,यह बड़े ही आश्चर्यकी वार्ता है, क्योंकि जो पुरुष विषय वासनामें लवलीन होता है वह कालग्रास होता है, अर्थात् क्षण मात्रमें नष्ट हो जाता है; इस कारण ज्ञानी पुरुषको विषयतृष्णा नहीं रखनी चाहिये ॥ ७ ॥

इहामुत्रविरक्तस्य नित्यानित्यविवेकिनः ।
आश्चर्यं मोक्षकामस्य मोक्षादेवाबिभीषिका ॥८॥

अन्वयः-इह अमुत्र विरक्तस्य नित्यानित्यविवेकिनः मोक्षकामस्य मोक्षात् एव विभीषिका (भवति इति) आश्चर्यम् ॥ ८ ॥

अब इस वार्ताका वर्णन करते हैं कि, ज्ञानी पुरुषको विषयोंका वियोग होनेपर शोक नहीं करना चाहिये-जिसको इस लोक और परलोकके सुखसे वैराग्य हो गया है और "आत्मा नित्य है तथा जगत् अनित्य है" इस प्रकार जिसको ज्ञान हुआ है और मोक्ष जो सच्चिदानन्दकी प्राप्ति है, उसके विषे जिसकी अत्यन्त अभिलाषा है, वह पुरुष भी बलवान् देह आदि असत् स्त्रीपुत्रादिके वियोगसे भयभीत होता है, यह बडेही आश्चर्यकी वार्ता है । जैसे स्वप्नमें अनेक प्रकारके सुख देखनेपर भी जाग्रत्अवस्थामें वह सुख नहीं रहते हैं तो उन सुखोंका कोई पुरुष शोक नहीं करता है, इसी प्रकार स्त्री, पुत्र, धन आदि असत् वस्तुका वियोग होनेपर शोक करना योग्य नहीं है ॥ ८ ॥

धीरस्तुभोज्यमानोऽपिपीड्यमानोऽपिसर्वदा ।
आत्मानंकेवलंपश्यन्नतुष्यातिनकुप्यति ॥ ९ ॥

अन्वयः-धीरस्तु (लोकैः विषयान्) भोज्यमानः अपि (निन्दादिना) पीड्यमानः अपि केवलम् आत्मानं पश्यन् न तुष्यति न कुप्यति ॥ ९ ॥

अब इस वार्ताका वर्णन करते हैं कि, ज्ञानीको शोक, हर्ष नहीं करने चाहिये-ज्ञानी पुरुषोंको जगत्के विषे पुण्यवान् पुरुष नाना-प्रकारके भोग कराते हैं परंतु वह ज्ञानी पुरुष उससे हर्षको नहीं

प्राप्त होता है और पापी पुरुष पीड़ा देते हैं तो उससे शोक न
करता है, क्योंकि वह ज्ञानी पुरुष जानता है कि, आत्मा सुखदु
खरहित है, अर्थात् आत्माको कदापि हर्ष शोक नहीं हो सकते हैं॥

चेष्टमानं शरीरं स्वं पश्यत्यन्यशरीरवत् ।
संस्तवेचापिनिन्दायांकथंक्षुभ्येन्महाशयः ॥ १०॥

अन्वयः-(यः) चेष्टमानं स्वं शरीरम् अन्यशरीरवत् पश्यति (सः
महाशयः संस्तवे अपि च निन्दायाम् कथं क्षुभ्येत् ॥ १० ॥

हर्ष, शोकके हेतु जो स्तुति निंदा आदि हैं वे तो शरीरके ध
हैं और शरीर आत्मासे भिन्न है, फिर ज्ञानीको हर्ष, शोक कि
प्रकार हो सकते हैं ? इस वार्ताका वर्णन करते हैं-जो ज्ञा
पुरुष चेष्टा करनेवाले अपने शरीरको अन्य पुरुषके शरीरके समा
आत्मासे भिन्न देखता है, वह महाशय स्तुति और निंदाके वि
किस प्रकार हर्ष शोकरूप क्षोभको प्राप्त होगा ? अर्थात् न
प्राप्त होगा ॥ १० ॥

मायामात्रमिदं विश्वं पश्यन्विगतकौतुकः ।
अपिसन्निहितमृत्यौ कथं त्रस्यति धीरधीः॥ ११॥

अन्वयः-इदम् विश्वम् मायामात्रम्(इति)पश्यन् विगतकौतुकः धीरधी
मृत्यौ सन्निहिते अपि कथम् त्रस्यति ॥ ११ ॥

"जिसका मरण होता है और जो बंध करता है ये दोनों
अनित्य हैं" इस प्रकार जाननेके कारण ज्ञानीको मृत्युकालके

समीप होनेपर भी भय किस प्रकार हो सकता है? इस वार्ताका वर्णन करते हैं:—यह दृश्यमान विश्व मायामात्र अर्थात् मिथ्यारूप है, इस प्रकार देखता है और कहां लीन होगा, इस प्रकार विचार नहीं करनेवाला ज्ञानी पुरुष मृत्युके समीप आनेपर भीत नहीं होता है ॥ ११ ॥

निस्पृहं मानसं यस्य नैराश्येऽपि महात्मनः।
तस्यात्मज्ञानतृप्तस्यतुलनाकेनजायते ॥ १२ ॥

अन्वयः—नैराश्ये अपि यस्य मानसम् निःस्पृहम् (भवति) तस्य आत्मज्ञानतृप्तस्य महात्मनः केन (समम्) तुलना जायते ॥ १२ ॥

अब ज्ञानीका सर्वकी अपेक्षा उत्कृष्टपना दिखाते–हैं "मैं ब्रह्मरूप हूँ" इस प्रकार ज्ञान होनेपर जिसके संपूर्ण मनोरथ पूर्ण हो गये हैं ऐसा जो महात्मा ज्ञानी पुरुष है उसका मन मोक्षके विषे भी निराश होता है अर्थात् वह मोक्षकी अभिलाषा नहीं करता, ऐसे ज्ञानीकी किससे तुलना की जाय? अर्थात् ज्ञानीके तुल्य कोई भी नहीं होता है ॥ १२ ॥

स्वभावादेव जानाति दृश्यमेतन्नकिञ्चन।
इदंग्राह्यमिदंत्याज्यंसाकिं पश्यतिधीरधीः॥१३॥

अन्वयः–स्वभावात् एव एतत् दृश्यम् किञ्चन न (इति यः) जानाति स धीरधीः इदम् ग्राह्यम् इदम् त्याज्यम् (इति) किं पश्यति ॥ १३ ॥

ज्ञानी पुरुषको "यह ग्रहण करने योग्य है यह त्यागने योग्य

है" इस प्रकार व्यवहार नहीं करना चाहिये इस वार्ताका वर्णन करते हैं–स्वभावसे ही अर्थात् अपनी सत्तासे ही जिस प्रकार सीपीके विष रजत कल्पनामात्र होता है, उसी प्रकार यह दृश्यमान द्वैतप्रपंच मिथ्यारूप है, "जगत् कल्पित है अर्थात् न सत् है न असत्" इस प्रकार जाननेवाले ज्ञानीकी बुद्धि धैर्यसंपन्न हो जाती है तो भी वह ज्ञानी "यह वस्तु ग्रहण करने योग्य है, यह वस्तु त्यागने योग्य है" इस प्रकारका व्यवहार क्यों करता है ? यह बड़े ही आश्चर्यकी वार्ता है अर्थात् ज्ञानी पुरुषको कदापि यह वस्तु त्यागने योग्य है, यह वस्तु ग्रहण करने योग्य है इस प्रकार व्यवहार नहीं करना चाहिये ॥ १३ ॥

अन्तस्त्यक्तकषायस्यनिर्द्वन्द्वस्यनिराशिषः ।
यदृच्छयागतोभोगोनदुःखाय न तुष्टये॥ १४ ॥

अन्वयः–अन्तस्त्यक्तकषायस्य निर्द्वन्द्वस्य निराशिषः यदृच्छया आगतः भोगः दुःखाय न (भवति) तुष्टये (च) न (भवति) ॥ १४ ॥

उपरोक्त विषयमें हेतु कहते हैं कि--अन्तःकरणके रागद्वेषादि कषायोंको त्यागनेवाले और शीत उष्णादि द्वंद्वरहित तथा विषयमात्रकी इच्छासे रहित जो ज्ञानी पुरुष है उसको दैवगतिसे प्राप्त हुआ भोग न दुःखदायक होता है और न प्रसन्न करनेवाला होता है॥ १४॥

इति श्रीमदष्टावक्रविरचितायां ब्रह्मविद्यायां सान्वयभाषाटीकया सहितमाक्षपद्वारोपदेशकं नाम तृतीयं प्रकरणं समाप्तम् ॥ ३ ॥

अथ तुरीयं प्रकरणम् ४.

हन्तात्मज्ञस्य धीरस्य खेलतो भोगलीलया।
नहि संसारवाहीकैर्मूढैः सह समानता ॥ १ ॥

अन्वयः—हन्त भोगलीलया खेलतः आत्मज्ञस्य धीरस्य संसारवाहीकैः मूढैः सह समानता नहि ॥ १ ॥

इस प्रकार श्रीगुरुने शिष्यकी परीक्षा लेनेके निमित्त आक्षेप किया, अब उसके उत्तरमें शिष्य गुरुके प्रति इस प्रकार कहता है कि—ज्ञानी संपूर्ण व्यवहारोंको मिथ्या जानता है और प्रारब्धानुकूल नाना प्रकारके जो भोग प्राप्त होते हैं उनको आत्मविलास मानता है। आनन्दकी वार्ता है कि, जो आत्मज्ञानी है वह अपने आत्माको सम्पूर्ण जगत्का अधिष्ठान जानता है, वही धैर्यवान् है, अर्थात् उसका चित्त विषयोंमें आसक्त नहीं होता है। प्रारब्धके अनुसार प्राप्त हुए विषयोंकी क्रीड़ाके विषे रमणकरनेवाले उस ज्ञानीको संसारके विषे देहाभिमान करनेवाले मूर्खोंसे तुल्यता नहीं होती है। यही गीताके विषे श्रीकृष्ण भगवान्ने कहा है—"तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः। गुणा गुणेषु वर्तंत इति मत्वा न सज्जते॥" अर्थात् आत्मज्ञानी सम्पूर्ण व्यवहारोंमें रहता है और किसी कार्यका अभिमान नहीं करता है.

क्योंकि वह जानता है कि, गुण गुणोंके विषे रहते हैं; मेरी कोई हानि नहीं है. मैं तो साक्षी हूं ॥ १ ॥

यत्पदं प्रेप्सवो दीनाः शक्राद्याः सर्वदेवताः ।
अहो तत्र स्थितो योगी न हर्षमुपगच्छति ॥२॥

अन्वयः-अहो शक्राद्याः सर्वदेवताः यत्पदम् प्रेप्सवः (संतः) दीना (वर्तन्ते) तत्र स्थितः योगी हर्षम् न उपगच्छति ॥ २ ॥

यहां शंका होती है कि-सांसारिक व्यवहारोंका बर्ताव करनेवाला ज्ञानी संसारी पुरुषोंके तुल्य क्यों नहीं होता है ? इसका समाधान करते हैं:-हे गुरो ! बड़े आश्चर्यकी वार्ता है कि, इं आदि संपूर्ण देवता जिस आत्मपदकी प्राप्तकी इच्छा करते हुए आत्मपदकी प्राप्ति न होनेसे दीनताको प्राप्त होते हैं उस सच्चिदानन्दस्वरूप आत्मपदके विषे स्थित अर्थात् 'तत् त्वम्' पदार्थके ऐक्यज्ञानसे आत्मपदके विषे वर्तमान आत्मज्ञानी विषयभोगसे सुखको नहीं प्राप्त होता है और उस विषयसुखके नाश होनेपर शोक नहीं करता है ॥ २ ॥

तज्ज्ञस्य पुण्यपापाभ्यां स्पर्शोह्यन्तर्नजायते ।
नह्याकाशस्य धूमेन दृश्यमानापि सङ्गतिः ॥३॥

अन्वयः-(यथा) हि आकाशस्य धूमेन (सह) दृश्यमाना अपि संगतिः न (अस्ति तथा) हि तज्ज्ञस्य पुण्यपापाभ्याम् अन्तः स्पर्शः न जायते ॥ ३ ॥

अब यह वर्णन करते हैं कि—आत्मज्ञानी पुण्य और पापसे लिप्त नहीं होता है, 'तत्-त्वम्' पदार्थकी एकताको जाननेवाले तत्त्वज्ञानीको अन्तःकरणके धर्म जो पुण्य पाप उनसे संबन्ध नहीं होता है, वह वेदोक्त विधिनिषेधके बन्धनमें नहीं होता है, क्योंकि जिसको आत्मज्ञान हो जाता है, उसके अन्तःकरणमें पाप पुण्यका संबन्ध नहीं होता है, जिस प्रकार धूम आकाशमें जाता है, परन्तु उस धूमका आकाशसे सम्बन्ध नहीं होता है। गीतामें श्रीकृष्णने कहा है कि—"ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा" अर्थात् ज्ञानरूपी अग्नि सम्पूर्ण कर्मोंको भस्म कर देता है॥ ३॥

आत्मैवेदं जगत्सर्वं ज्ञातं येन महात्मना।
यदृच्छया वर्तमानं तं निषेद्धुं क्षमेत कः॥ ४॥

अन्वयः—येन महात्मना इदम् सर्वम् जगत् आत्मा एव (इति) ज्ञातम् तम् यदृच्छया वर्त्तमानम् कः निषेद्धुं क्षमेत॥ ४॥

यहां शंका होती है कि, ज्ञानी कर्म करता है और उसको पाप पुण्यका स्पर्श नहीं होता है, यह कैसे हो सकता है? इसका समाधान करते हैं कि, जिस ज्ञानी महात्माने "यह दृश्यमान सम्पूर्ण जगत् आत्मा ही है" इस प्रकार जान लिया और तद-नन्तर प्रारब्धके वशीभूत होकर वर्तता है, उस ज्ञानीको कोई रोक नहीं सकता है, अर्थात् वेदवचन भी ज्ञानीको न रोक सकता है, न प्रवृत्त कर सकता है; क्योंकि—"प्रबोधनीय एवासौ सुप्तो

राजेव बन्दिभिः " अर्थात् जिस प्रकार बन्दी (भाट) राजाके चरित्रोंका वर्णन करते हैं, इसी प्रकार वेद भी आत्मज्ञानीका बखान करते हैं ॥ ४ ॥

आब्रह्मस्तम्बपर्यन्ते भूतग्रामे चतुर्विधे ।
विज्ञस्यैवहिसामर्थ्यमिच्छानिच्छाविसर्जने ॥५॥

अन्वयः—हि आब्रह्मस्तम्बपर्यन्ते चतुर्विधे भूतग्रामे विज्ञस्य एव इच्छा निच्छाविसर्जने सामर्थ्यम् (अस्ति) ॥ ५ ॥

शिष्य शंका करता है कि—ज्ञानी अपनी इच्छाके अनुसार वर्तता है, या दैवेच्छासे वर्तता है ? इसका गुरु उत्तर देते हैं कि-ब्रह्मासे तृणपर्यन्त चार प्रकारके प्राणियोंसे भरे हुए ब्रह्मांडके विषे इच्छा और अनिच्छा यह दो पदार्थ किसीके दूर करनेसे दूर नहीं होते हैं, परन्तु ज्ञानीको ऐसा सामर्थ्य है कि, न उसको इच्छा है न अनिच्छा है ॥ ५ ॥

आत्मानमद्वयं कश्चिज्जानाति जगदीश्वरम् ।
यद्वेत्ति तत्स कुरुते न भयं तस्य कुत्रचित् ॥ ६ ॥

अन्वयः—(यः) कश्चित् जगदीश्वरम् आत्मानम् अद्वयम् जानाति सः यत् वेत्ति तत् कुरुते, तस्य कुत्रचित् भयम् न (भवति) ॥ ६ ॥

अब इस वार्ताका वर्णन करते हैं कि, ज्ञानी पुरुष सर्वथा निर्भय होता है । आत्मज्ञानसे द्वैतप्रपंचको दूर करनेवाले ज्ञानीको

भय नहीं होता है, परंतु अद्वितीय आत्मस्वरूपको हजारोंमें कोई एक ही जानता है और अद्वितीय आत्मस्वरूपका ज्ञान होनेके अनन्तर कोई कर्म करे अथवा न करे, तो भी वह इस लोक तथा परलोकके विषे भयको नहीं प्राप्त होता है ॥ ६ ॥

इति श्रीमदष्टावक्रमुनिविरचितायां ब्रह्मविद्यायां सान्वय-
भाषाटीकया सहितं शिष्यप्रोक्तानुभवोल्लासषट्कं
चतुर्थं प्रकरणं समाप्तम् ॥ ४ ॥

अथ पञ्चमं प्रकरणम् ५.

न ते सङ्गोऽस्ति केनापि किं शुद्धस्त्यक्तुमिच्छसि।
संघातविलयं कुर्वन्नेवमेव लयं व्रज ॥ १ ॥

अन्वयः-(हे शिष्य !) ते केन आपि सङ्गः न अस्ति शुद्धः (त्वम्) किम् त्यक्तुम् (उपादातुं च) इच्छसि, संघातविलयं कुर्वन् एवम् एवं लयम् व्रज ॥ १ ॥

इस प्रकार शिष्यकी परीक्षा लेकर उसको दृढ़ उपदेश दिया; अब चार श्लोकोंसे गुरु लयका उपदेश करते हैं:-हे शिष्य ! तू शुद्धबुद्धस्वरूप है, अहंकारादि किसीके भी साथ तेरा संबंध नहीं है, अतः नित्य-शुद्ध बुद्ध-मुक्तस्वभाव तू त्यागनेको और ग्रहण करनेको किसकी इच्छा करता है ? अर्थात् तेरे त्यागने और ग्रहण करने योग्य कोई पदार्थ नहीं है इस कारण संघातका निषेध

करता हुआ लयको प्राप्त हो, अर्थात् देहादिसंपूर्ण वस्तु जड़ हैं, उनका त्याग कर और मिथ्या जान ॥ १ ॥

उदेति भवतो विश्वं वारिधेरिव बुद्बुदः।
इति ज्ञात्वैकमात्मानमेवमेव लयं व्रज ॥ २ ॥

अन्वयः–(हे शिष्य!) वारिधेः बुद्बुदः इव भवतो विश्वम् उदेति इति एकम् आत्मानम् ज्ञात्वा एवम् एव लयम् व्रज ॥ २ ॥

हे शिष्य! यह जगत् अपनी भावनासे हुआ है, अर्थात् जिस प्रकार जलसे बुलबुले भिन्न नहीं होते इसी प्रकार तुझ (आत्मा) से यह जगत् भिन्न नहीं है। सजातीय, विजातीय और स्वगत ये तीन भेद आत्माके विषे नहीं हैं, आत्मा एक है " सो मैं ही हूं" इस प्रकार जानकर आत्मरूपके विषे लयको प्राप्त हो। (एक मनुष्यजातिके विषे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र आदि अनेक भेद हैं, यह सजातीय भेद कहाता है और मनुष्य, पशु, पक्षी यह जो भिन्न भिन्न जाति हैं, सो विजातीय भेद हैं तथा एक देहके विषे हाथ, चरण, मुख इत्यादि जो भेद हैं सो स्वगतभेद कहाते हैं) ॥ २ ॥

प्रत्यक्षमप्यवस्तुत्वाद्विश्वं नास्त्यमले त्वयि।
रज्जुसर्प इव व्यक्तमेवमेव लयं व्रज ॥ ३ ॥

अन्वयः–प्रत्यक्षम् अपि व्यक्तम् विश्वम् रज्जुसर्पः इव अवस्तुत्वात् अमले त्वयि न अस्ति (तस्मात्) एवम् एव लयं व्रज ॥ ३ ॥

यहां शंका होती है कि, जब प्रत्यक्ष हार और सर्प आदिका भेद प्रतीत होता है तो फिर किस प्रकार हार आदिका विलय हो सकता है ? इसका समाधान करते हैं कि, रज्जु अर्थात् डोरेके विषे सर्पकी प्रत्यक्ष प्रतीति होती है, परंतु वास्तवमें वह सर्प नहीं होता है, इसी प्रकार "यह प्रत्यक्ष स्पष्ट प्रतीत होनेवाला जगत् निर्मल आत्माके विषे नहीं है" ऐसा जानकर आत्मस्वरूपके विषे लीन हो ॥ ३ ॥

समदुःखसुखः पूर्ण आशानैराश्ययोः समः।
समजीवितमृत्युः सन्नेवमेव लयं व्रज ॥ ४ ॥

अन्वयः-(हे शिष्य !) पूर्णः समदुःखसुखः (तथा) आशानैराश्ययोः समः सन् एवम् एव लयं व्रज ॥ ४ ॥

हे शिष्य ! तू (आत्मा) आनंदसे परिपूर्ण है, इसी कारण प्रारब्धवश प्राप्त हुए सुख और दुःखके विषे समदृष्टि करनेवाला तथा आशा और निराशाके विषे समदृष्टि करनेवाला और जीवन तथा मरणको समदृष्टिसे देखता हुआ ब्रह्मदृष्टिरूप लयको प्राप्त हो ॥ ४ ॥

इति श्रीमदष्टावक्रमुनिविरचितायां ब्रह्मविद्यायां भाषाटीकया सहितमाचार्योक्तं लयचतुष्टयं नाम पञ्चमं प्रकरणं समाप्तम् ॥ ५ ॥

अथ षष्ठं प्रकरणम् ६.

आकाशवदनन्तोऽहं घटवत्प्राकृतं जगत् ।
इति ज्ञानं तथैतस्य न त्यागो न ग्रहो लयः ॥ १ ॥

अन्वयः—अहम् आकाशवत् अनंतः प्राकृतम् जगत् घटवत् इति ज्ञानम् (अनुभवसिद्धम्) तथा एतस्य न त्यागः, न ग्रहः (न) लयः ॥ १ ॥

इस प्रकार पञ्चम प्रकरणमें गुरुने लयमार्गका उपदेश किया अब शिष्य प्रश्न करता है कि, आत्मा जो अनंतरूप है उसका देहादिके विषे निवास करना किस प्रकार घटेगा ? इसका गुरु समाधान करते हैं कि, आत्मा आकाशके समान अनंतरूप है और प्रकृतिका कार्य जगत् घटके समान आत्माका अवच्छेदक और निवास—स्थान अर्थात् जिस प्रकार आकाश घटादिमें व्याप्त होता है इसी प्रकार आत्मा देहके विषे व्याप्त है, ऐसा जो ज्ञान है सो वेदांतसिद्ध और अनुभवसिद्ध है, इसमें कुछ सन्देह नहीं है । इस कारण उस आत्माका न त्याग है और न ग्रहण है और लय भी नहीं है ॥ १ ॥

महोदधिरिवाहं स प्रपंचो वीचिसन्निभः ।
इति ज्ञानं तथैतस्य न त्यागो न ग्रहो लयः ॥ २ ॥

अन्वयः-सः अहम् महोदधिः इव प्रपंचः वीचिसन्निभः इति ज्ञानम् (अनुभवसिद्धम्) तथा एतस्य न त्यागः, न ग्रहः, (न) लयः ॥ २ ॥

इस घट और आकाशके दृष्टांतसे देह और आत्माके भेदकी शंका होती है। इसपर कहते हैं कि, वह पूर्वोक्त मैं (आत्मा) समुद्रके समान हूँ और प्रपंच तरंगोंके समान हैं, इस प्रकारका ज्ञान अनुभवसिद्ध है, इस कारण इस आत्माका त्याग ग्रहण और लय होना संभव नहीं है॥ २॥

अहं स शुक्तिसंकाशो रूप्यवद्विश्वकल्पना।
इति ज्ञानं तथैतस्य न त्यागो न ग्रहो लयः॥३॥

अन्वयः-सः अहम् शुक्तिसंकाशः विश्वकल्पना रूप्यवत् इति ज्ञानम् तथा एतस्य न त्यागः, न ग्रहः, (न) लयः॥ ३॥

इस समुद्र और तरंगोंके दृष्टांतसे आत्माके विषे विकारकी शंका होती है। इस शिष्यके संदेहका गुरु समाधान करते हैं कि--"जिस प्रकार सीपीके विषे रजत कल्पित होता है इसी प्रकार आत्माके विषे यह जगत् कल्पित है" इस प्रकारका वास्तविक ज्ञान होनेपर आत्माका त्याग, ग्रहण और लय नहीं हो सकता॥ ३॥

अहं वा सर्वभूतेषु सर्वभूतान्यथो मयि।
इति ज्ञानं तथैतस्य न त्यागो न ग्रहो लयः॥४॥

अन्वयः-सर्वभूतेषु अहम् अथो वा सर्वभूतानि मयि इति ज्ञानम् (अनुभवसिद्धम्) तथा एतस्य न त्यागः न ग्रहः, (न) लयः॥ ४॥

फिर शिष्य शंका करता है कि, सीपी और रजतका दृष्टांत दिखाया; इससे तो आत्माके विषे परिच्छिन्नता अर्थात् एकदेशपनारूप दोष आता है । तब गुरु कहते हैं कि, मैं संपूर्ण प्राणियोंके विषे सत्तारूपसे स्थित रहता हूं, इस कारण संपूर्ण प्राणी मुझे अधिष्ठानरूपके विषे ही स्थित हैं । इस प्रकार ज्ञान वेदान्तशास्त्रके विषे प्रतिपादन किया है, ऐसा ज्ञान होने आत्माका त्याग, ग्रहण और लय नहीं होता है ॥ ४ ॥

इति श्रीमदष्टावक्रमुनिविरचितायां ब्रह्मविद्यायां भाषाटीकया सहितं शिष्योक्तमुत्तरचतुष्कं नाम षष्ठं प्रकरणं समाप्तम् ॥ ६ ॥

अथ सप्तमं प्रकरणम् ७.

मय्यनन्तमहाम्भोधौ विश्वपोत इतस्ततः ।
भ्रमति स्वांतवातेन न ममास्त्यसहिष्णुता॥ १

अन्वयः—अनन्तमहाम्भोधौ मयि स्वान्तवातेन विश्वपोतः इतस्त भ्रमति; मम असहिष्णुता न अस्ति ॥ १ ॥

पंचम प्रकरणके विषे गुरुने इस प्रकार वर्णन किया कि—ल योगका आश्रय किये विना सांसारिक व्यवहारोंका विक्षेप अव होता है, इसके उत्तरमें षष्ठ प्रकरणके विषे शिष्यने कहा कि आत्माके विषे इष्टानिष्टभाव है, इस कारण आत्माका त्या

हण और लय आदि नहीं होता है, अब इस कथनका ही पांच श्लोकोंसे विवेचन करते हैं:—मैं चैतन्यमय अनंत समुद्र हूं और मेरे विषे संसाररूपी नौका मनरूपी वायुके वेगसे चारों ओरको घूमती है । इस संसाररूप नौकाके भ्रमणसे मेरा मन इस प्रकार चलायमान नहीं होता; जिस प्रकार नौकासे समुद्र चलायमान नहीं होता है ॥ १ ॥

मय्यनन्तमहाम्भोधौ जगद्वीचिः स्वभावतः ।
उदेतु वास्तमायातु न मे वृद्धिर्न च क्षतिः ॥ २ ॥

अन्वयः—अनंतमहाम्भोधौ मयि स्वभावतः जगद्वीचिः उदेतु वा अस्तम् आयातु, मे न वृद्धिः, न च क्षतिः ॥ २ ॥

पहले इस प्रकार वर्णन किया कि,संसारके व्यवहारोंसे आत्माको कोई हानि नहीं होती है और अब यह वर्णन करते हैं कि, संसारकी उत्पत्ति और लयसे भी आत्माकी कोई हानि नहीं होती है:—मैं चैतन्यमय अनंतरूप समुद्र हूँ, इस मेरे (आत्माके) विषे स्वभावसे संसाररूपी तरंग उत्पन्न होते हैं और नष्ट हो जाते हैं । इन संसाररूपी तरंगोंके उत्पन्न होनेसे न मुझे कोई लाभ होता है और नष्ट होनेसे हानि भी नहीं होती, क्योंकि मैं सर्वव्यापी हूँ, इस कारण मेरी उत्पत्ति नहीं हो सकती है और मैं अनंत हूँ, इस कारण मेरा लय (नाश) नहीं हो सकता ॥ २ ॥

मय्यनन्तमहाम्भोधौ विश्वं नाम विकल्पना।
अतिशान्तो निराकार एतदेवाहमास्थितः ॥३॥

अन्वयः–अनन्तमहाम्भोधौ मयि विश्वम् विकल्पना नाम; (अत:) अहम् अतिशान्तः निराकारः एतत् एव आस्थितः (अस्मि) ॥ ३ ॥

इस कहे हुए समुद्र और तरंगके दृष्टांतसे आत्माके विषे परिणामीपनेकी शंका होती है, इस शंकाकी निवृत्तिके अर्थ कहते हैं कि, अनंत समुद्ररूप जो मैं हूं; सो मेरे विषे जगत् केवल कल्पनामात्र है, सत्य नहीं है; इसी कारण मैं शांत अर्थात् संपूर्णविकाररहित और निराकार तथा केवल आत्मज्ञानका आश्रित हूं ॥३॥

नात्मा भावेषु नो भावस्तत्रानन्ते निरञ्जने।
इत्यसक्तोऽस्पृहः शांत एतदेवाहमास्थितः ॥४॥

अन्वयः–भावेषु आत्मा न अनन्ते निरञ्जने तत्र भावः नो, इति असक्तः अस्पृहः शान्तः एतत् एव आस्थितः (अस्मि) ॥ ४ ॥

अब आत्माकी शांतस्वरूपताका ही वर्णन करते हैं:–देह इंद्रियादि पदार्थोंके विषे आत्मपना अर्थात् सत्यपना नहीं है क्योंकि देहेंद्रियादि पदार्थ उत्पन्न होते हैं और नष्ट होते हैं और देह इन्द्रियादिरूप उपाधि आत्माके विषे नहीं है, क्योंकि आत्मा अनन्त और निरंजन है, इसी कारण मैं इच्छारहित और शांत तथा तत्त्वज्ञानके आश्रित हूं ॥ ४ ॥

अहोचिन्मात्रमेवाहमिन्द्रजालोपमं जगत् ।
अतो मम कथं कुत्र हेयोपादेयकल्पना ॥ ५ ॥

अन्वयः-अहो अहम् चिन्मात्रम् एव जगत् इन्द्रजालोपमम्, अतः मम हेयोपादेयकल्पना कुत्र कथम् (स्यात्) ॥ ५ ॥

"आत्मा इच्छादिरहित है" इस विषयमें और हेतु कहते हैं:- अहो ! मैं अलौकिक चैतन्यमात्र हूं और जगत् इंद्रजाल अर्थात् बाजीगरके चरित्रोंके समान है, इस कारण किसी पदार्थके विषे मेरे ग्रहण करनेकी और त्यागनेकी कल्पना किस प्रकार हो सकती है ? अर्थात् न तो मैं किसी पदार्थको त्यागता हूं और न ग्रहण करता हूं ॥ ५ ॥

इति श्रीमदष्टावक्रमुनिविरचितायां ब्रह्मविद्यायां भाषाटीकया सहितमनुभवपञ्चकविवरणं नाम सप्तमं प्रकरणं समाप्तम् ॥ ७ ॥

अथाष्टमं प्रकरणम् ८.

तदा बन्धो यदा चित्तं किञ्चिद्वाञ्छति शोचति ।
किञ्चिन्मुञ्चति गृह्णाति किञ्चिद्धृष्यति कुप्यति ॥ १ ॥

अन्वयः-यदा चित्तं किञ्चित् वाञ्छति, शोचति, किञ्चित् मुञ्चति, गृह्णाति, किञ्चित् हृष्यति कुप्यति तदा बंधः भवति ॥ १ ॥

इस प्रकार छः प्रकरणोंके कथनसे अपने शिष्यकी सर्वथा परीक्षा लेकर बन्धमोक्षकी व्यवस्था वर्णन करनेके मिषसे गुरु

अपने शिष्यके अनुभवकी चार श्लोकोंसे प्रशंसा करते हैं:- शिष्य ! तूने जो कहा कि, मुझको (आत्माको) कुछ त्याग करना और ग्रहण करना नहीं सो सत्य है, क्योंकि जब चित्त किसी वस्तुकी इच्छा करता है, कभी (न पानेसे) सोच करता है, किसी वस्तुका त्याग करता है, किसी वस्तुको ग्रहण करता है, किसी वस्तुसे प्रसन्न होता है, अथवा कोप करता है तब जीवका बंध होता है ॥ १ ॥

तदा मुक्तिर्यदा चित्तं न वाञ्छति न शोचति ।
न मुञ्चति न गृह्णाति न हृष्यति न कुप्यति ॥२॥

अन्वयः—यदा चित्तम् न वाञ्छति, न शोचति, न मुञ्चति, न गृह्णाति, न हृष्यति, न कुप्यति तदा मुक्तिर्भवति ॥ २ ॥

जब चित्त इच्छा नहीं करता, शोक नहीं करता, किसी वस्तुका त्याग नहीं करता, ग्रहण नहीं करता तथा किसी वस्तुकी प्राप्तिसे प्रसन्न नहीं होता और कारण होनेपर भी कोप नहीं करता है तभी जीवकी मुक्ति होती है ॥ २ ॥

तदा बन्धो यदा चित्तं सक्तं कास्वपि दृष्टिषु ।
तदा मोक्षो यदा चित्तमसक्तं सर्वदृष्टिषु ॥ ३ ॥

अन्वयः—यदा चित्तम् कासु अपि दृष्टिषु सक्तम् तदा बन्धः, यदा चित्तम् सर्वदृष्टिषु असक्तम् तदा मोक्षः ॥ ३ ॥

इस प्रकार बन्ध मोक्षका भिन्न भिन्न वर्णन किया, अब दोनोंका इकट्ठा वर्णन करते हैं—जिसका चित्त आत्मभिन्न किसी भी जड़ पदार्थके विषे आसक्त होता है, तब जीवका बन्ध होता है और जब चित्त आत्मभिन्न संपूर्ण जड़ पदार्थोंके विषे आसक्तिरहित होता है तभी जीवका मोक्ष होता है ॥ ३ ॥

यदा नाहं तदा मोक्षो यदाहं बन्धनं तदा ।
मत्वेति हेलया किञ्चिन्मा गृहाण विमुञ्चमा ॥४॥

अन्वयः—यदा अहम् न तदा मोक्षः, यदा अहम् तदा बंधनम् इति मत्वा हेलया किञ्चित् मा गृहाण मा विमुञ्च ॥ ४ ॥

अब "संपूर्ण विषयोंके विषे चित्त आसक्त न हो ऐसी साधनसंपत्ति प्राप्त होनेपर भी अहंकार दूर हुए विना मुक्ति नहीं होती है" यही कहते हैंः—कि—जबतक "मैं देह हूं" इस प्रकार अभिमान रहता है तभीतक यह संसारबंधन रहता है और जब "मैं आत्मा हूं, देह नहीं हूं" इस प्रकारका अभिमान दूर हो जाता है तब मोक्ष होता है । इस प्रकार जानकर व्यवहारदृष्टिसे न किसी वस्तुको ग्रहण कर, न किसी वस्तुका त्याग कर ॥ ४ ॥

इति श्रीमदष्टावक्रमुनिविरचितायां ब्रह्मविद्यायां भाषाटीकया सहितं गुरुप्रोक्तं बन्धमोक्षव्यवस्था नामाष्टमं प्रकरणं समाप्तम् ॥ ८ ॥

अथ नवमं प्रकरणम् ९.

कृताकृते च द्वन्द्वानि कदा शान्तानि कस्य वा ।
एवं ज्ञात्वेह निर्वेदाद्भवत्यागपरोऽव्रती ॥ १ ॥

अन्वयः—कृताकृते द्वन्द्वानि कस्य कदा वा शांतानि एवम् ज्ञात्वा निर्वेदात् त्यागपरः अव्रती भव ॥ १ ॥

पूर्वोक्त प्रकरणके विषे गुरुने कहा—" न किसी वस्तुको ग्रहण कर न त्याग कर " तब शिष्य प्रश्न करता है कि, त्यागकी क्या रीति है ? उसके समाधानमें गुरु आठ श्लोकोंसे वैराग्य वर्णन करते हैं—कृत और अकृत अर्थात् यह करना चाहिये, यह न करना चाहिये, इत्यादि अभिनिवेश और सुख, दुःख, शीत, उष्ण आदि द्वंद्व किसके कभी शांत हुए हैं ? अर्थात् कभी किसीके निवृत्त नहीं हुए, इस प्रकार जानकर इन कृत-अकृत और सुख दुःखादिके विषे विरक्त होनेसे त्यागपरायण और संपूर्ण पदार्थोंके विषे आग्रहका त्यागनेवाला हो ॥ १ ॥

कस्यापि तात धन्यस्य लोकचेष्टावलोकनात् ।
जीवितेच्छा बुभुक्षा च बुभुत्सोपशमं गताः ॥ २ ॥

अन्वयः—हे तात ! लोकचेष्टावलोकनात् कस्य अपि धन्यस्य जीवितेच्छा बुभुक्षा, बुभुत्सा च उपशमं गताः ॥ २ ॥

अब चित्तके धर्मोंका त्यागरूप वैराग्य तो किसीको ही होता है, सबको नहीं. यह वर्णन करते हैं—हे शिष्य ! सहस्रोंमेंसे किसी एक धन्य पुरुषकी ही संसारकी उत्पत्ति और नाशरूप चेष्टाके देखनेसे जीवनकी इच्छा और भोगकी इच्छा तथा जाननेकी इच्छा निवृत्त होती है ॥ २ ॥

अनित्यं सर्वमेवेदं तापत्रितयदूषितम् ।
असारं निन्दितं हेयमिति निश्चित्य शाम्यति ३॥

अन्वयः—तापत्रितयदूषितम् इदम् सर्वम् एव अनित्यम्, असारं निंदितम् हेयम् इति निश्चित्य (ज्ञानी) शाम्यति ॥ ३ ॥

अब शिष्य शंका करता है कि--ज्ञानी पुरुषोंकी जो सम्पूर्ण विषयोंमें आसक्ति नष्ट हो जाती है उसमें क्या कारण है ? तब गुरु कहते हैं कि--यह सम्पूर्ण जगत् अनित्य है, चैतन्यस्वरूप आत्माकी सत्तासे स्फुरित होता है, वास्तवमें कल्पनामात्र है और आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक इन तीनों दुःखोंसे दूषित हो रहा है अर्थात् तुच्छ है, झूठा है, ऐसा निश्चय करके ज्ञानी पुरुष उदासीनताको प्राप्त होता है ॥ ३ ॥

कोऽसौ कालो वयः किंवा यत्र द्वन्द्वानि नो नृणाम् ।
तान्युपेक्ष्य यथाप्राप्तवर्ती सिद्धिमवाप्नुयात् ॥ ४ ॥

अन्वयः—यत्र नृणाम् द्वंद्वानि नो (संति) असौ कः कालः, किम् वयः। तानि उपेक्ष्य यथाप्राप्तवर्ती (सन्) सिद्धिम् अवाप्नुयात् ॥ ४ ॥

अब यह वर्णन करते हैं कि–सुखदुःखादि द्वंद्व तो प्रार[illegible] कर्मोंके अनुसार अवश्य ही प्राप्त होंगे, परन्तु उन सुखदुःखा[illegible] कोंके विषे इच्छा और अनिच्छाका त्याग करके प्रारब्धकर्मा[illegible] सार प्राप्त हुए सुखदुःखादि द्वंद्वोंको भोगता हुआ मुक्तिको प्रा[illegible] होता है, ऐसा कौनसा काल है कि,जिसमें मनुष्यको सुखदुःखा[illegible] द्वंद्वोंकी प्राप्ति न हो और ऐसी कौनसी अवस्था है कि, जि[illegible] मनुष्यको सुख दुःख आदि न हो ? अर्थात् जिसमें मनुष्य[illegible] सुख, दुःखादि नहीं होते हों ऐसा न कोई समय है और न को[illegible] ऐसी अवस्था है, किन्तु सर्व कालमें और सब अवस्थाओं[illegible] सुख दुःख तो होते ही हैं । ऐसा जानकर उन सुख–दुःखा[illegible] कोंके विषे संकल्प, विकल्पको त्यागनेवाला पुरुष प्रारब्धकर्मा[illegible] नुसार प्राप्त हुए सुखदुःखादिको आसक्तिरहित भोगकर सि[illegible] (मुक्ति) को प्राप्त होता है ॥ ४ ॥

नाना मतं महर्षीणां साधूनां योगिनां तथा ।
दृष्ट्वा निर्वेदमापन्नः को न शाम्यति मानवः ॥५॥

अन्वयः–महर्षीणाम् साधूनाम् तथा योगिनाम् नाना मतं दृष्ट्वा निर्वेद[illegible] आपन्नः कः मानवः न शाम्यति ॥ ५ ॥

अब इस वार्ताको वर्णन करते हैं कि, तत्त्वज्ञानके सिवा[illegible] अन्यत्र किसी विषयमें भी निष्ठा न करे । ऋषियोंके भिन्न भि[illegible] रीतिसे नाना प्रकारके मत हैं उनमें कोई होम करनेका उपदे[illegible]

करते हैं, कोई मंत्रजप करनेका उपदेश करते हैं, कोई चांद्रायण आदि व्रतोंकी महिमा वर्णन करते हैं। इसी प्रकार साधु कहिये भक्तपुरुषोंके भी अनेक भेद और सम्प्रदाय हैं, जैसे–शैव, शाक्त, वैष्णव आदि तथा योगियोंके मत भी अनेक प्रकारके हैं। उनमें कोई अष्टांगयोगकी साधना करते हैं और कोई तत्त्वोंकी गणना करते हैं। इस प्रकार भिन्न भिन्न प्रकारके मत होनेके कारण उन सबको त्याग कर वैराग्यपूर्वक कौन पुरुष शांतिको नहीं प्राप्त होगा? किन्तु शांतिको प्राप्तही होगा ॥ ५ ॥

कृत्वा मूर्तिपरिज्ञानं चैतन्यस्य न किं गुरुः।
निर्वेदसमतायुक्त्या यस्तारयति संसृतेः ॥ ६ ॥

अन्वयः–निर्वेदसमतायुक्त्या चैतन्यस्य मूर्तिपरिज्ञानं कृत्वा यः न किं गुरुः सः संसृतेः तारयति ॥ ६ ॥

अब यह वर्णन करते हैं कि, कर्मादिक त्याग करके केवल ज्ञाननिष्ठाकाही आश्रय करना चाहिये। निर्वेद कहिये वैराग्य अर्थात् विषयोंके विषे आसक्ति न करना और समता कहिये शत्रुमित्रादि सबके विषे समदृष्टि रखना अर्थात् सर्वत्र आत्मदृष्टि करना तथा युक्ति श्रुतियोंके अनुसार शंकाओंका समाधान करना, इनके द्वारा सच्चिदानन्दस्वरूपका साक्षात्कार करके फिर कर्ममार्गके विषे गुरुका आश्रय न करनेवाला पुरुष अपने आत्माको तथा औरोंको भी संसारसे तार देता है ॥ ६ ॥

पश्यभूतविकारांस्त्वं भूतमात्रान् यथार्थतः।
तत्क्षणाद्बन्धनिर्मुक्तःस्वरूपस्थो भविष्यसि॥७॥

अन्वयः-(हे शिष्य !) भूतविकारान् यथार्थतः भूतमात्रान् पश्य (एवम्) त्वम् तत्क्षणात् बन्धनिर्मुक्तः स्वरूपस्थः भविष्यसि ॥ ७॥

अब चैतन्यस्वरूपके साक्षात् करनेका उपाय कहते हैं:-हे शिष्य ! भूतविकार अर्थात् देह, इंद्रिय आदिको वास्तवमें जड़ जो पंचमहाभूत उनका विकार जान आत्मस्वरूप मत जान। यदि गुरु श्रुति और अनुभवसे ऐसा निश्चय कर लेगा तो तत्काल ही संसारबन्धनसे मुक्त होकर शरीर आदिसे विलक्षण जो आत्मा, उस आत्मस्वरूपके विषे स्थितिको प्राप्त होगा, क्योंकि शरीर आदिके विषे आत्मभिन्न जडत्व आदिका ज्ञान होनेपर इन शरीर आदिका साक्षी जो आत्मा सो शीघ्र ही जाना जाता है ॥ ७ ॥

वासना एव संसार इति सर्वा विमुञ्च ताः।
तत्त्यागोवासनात्यागात्स्थितिरद्य यथातथा ८॥

अन्वयः-संसारः वासनाः एव, इति ताः सर्वाः विमुञ्च, वासनात्यागात् तत्त्यागः। अद्य स्थितिः तथा यथा ॥ ८ ॥

इस प्रकार आत्मज्ञान होनेपर आत्मज्ञानके विषे निष्ठा होनेके लिये वासनाके त्याग करनेको उपदेश करते हैं:-विषयोंके विषे वासना होना ही संसार है, इस कारण हे शिष्य ! उन सम्पूर्ण वासनाओंका त्यागकर, क्योंकि वासनाके त्यागसे आत्मनिष्ठा

होनेपर इस संसारका स्वयं त्याग हो जाता है और वासनाओंके त्याग होनेपर भी संसारके विषे शरीरकी स्थिति प्रारब्ध कर्मोंके अनुसार रहती है ॥ ८ ॥

इति श्रीमदष्टावक्रमुनिविरचितायां ब्रह्मविद्यायां सान्वयभाषाटीकया सहितं गुरुप्रोक्तं निर्वेदाष्टकं नाम नवमं प्रकरणं समाप्तम् ॥ ९ ॥

अथ दशमं प्रकरणम् १०.

विहाय वैरिणं काममर्थं चानर्थसंकुलम् ।
धर्ममप्येतयोर्हेतुं सर्वत्रानादरं कुरु ॥ १ ॥

अन्वयः—वैरिणम् कामम् अनर्थसंकुलम् अर्थम् च (तथा) एतयोः हेतुम् धर्मम् अपि विहाय सर्वत्र अनादरं कुरु ॥ १ ॥

पूर्वमें विषयोंके विना भी संतोषरूपसे वैराग्यका वर्णन किया, अब विषयतृष्णाके त्यागका गुरु उपदेश करते हैं:—हे शिष्य ! ज्ञानका शत्रु जो काम है; उसका त्याग कर और जिसके पैदा करनेमें रक्षा करनेमें तथा खर्च करनेमें दुःख होता है ऐसे सर्वथा दुःखोंसे भरे हुए अर्थ कहिये धनका त्यागकर तथा काम और अर्थ दोनोंका हेतु जो धर्म, उसका भी त्याग कर और तदनंतर धर्म काम रूप त्रिवर्गके हेतु जो सकाम कर्म उनके विषे आसक्तिका त्याग कर ॥ १ ॥

स्वप्नेन्द्रजालवत्पश्य दिनानि त्रीणि पंच वा।
मित्रक्षेत्रधनागारदारदायादिसम्पदः ॥ २ ॥

अन्वयः-(हे शिष्य !) त्रीणि पंच वा दिनानि (स्थायिन्यः) मित्रक्षेत्रधनागारदारदायादिसम्पदः स्वप्नेन्द्रजालवत् पश्य ॥ २॥

इसपर शिष्य शंका करता है कि-स्त्री, पुत्रादि और अनेक प्रकारके सुख देनेवाले जो कर्म उनका किस प्रकार त्याग हो सकता है ? तब गुरु कहते हैं कि-हे शिष्य ! तीन अथवा पांच दिन रहनेवाले मित्र, क्षेत्र, धन, स्थान, स्त्री और कुटुंब आदि सम्पत्तियोंको स्वप्न और इंद्रजालके समान अनित्य जान ॥ २॥

यत्रयत्र भवेत्तृष्णा संसारं विद्धि तत्र वै ।
प्रौढवैराग्यमाश्रित्य वीततृष्णः सुखी भव ॥३॥

अन्वयः-वै यत्र यत्र तृष्णा भवेत तत्र संसारं विद्धि, (तस्मात) प्रौढ वैराग्यम् आश्रित्य वीततृष्णः (सन्) सुखी भव ॥ ३ ॥

अब यह वर्णन करते हैं कि, सम्पूर्ण काम्य कर्मोंमें अनादर करनारूप वैराग्य ही मोक्षरूप पुरुषार्थका कारण है, जहां जहां विषयोंके विषे तृष्णा होती है वहां ही संसार जान, क्योंकि विषयोंकी तृष्णा ही कर्मोंके द्वारा संसारका हेतु होती है, इस कारण दृढ वैराग्यका अवलम्बन करके अप्राप्त विषयोंमें इच्छा रहित होकर आत्मज्ञानकी निष्ठा करके सुखी हो ॥ ३ ॥

तृष्णामात्रात्मको बन्धस्तन्नाशोमोक्षउच्यते।
भवासंसक्तिमात्रेण प्राप्तितुष्टिर्मुहुर्मुहुः ॥ ४ ॥

अन्वयः—बन्धः तृष्णामात्रात्मकः, तन्नाशः मोक्षः उच्यते, भवासंसक्तिमात्रेण मुहुर्मुहुः प्राप्तितुष्टिः (स्यात्) ॥ ४ ॥

उपरोक्त विषयको ही अन्यरीतिसे कहते हैं:—हे शिष्य! तृष्णामात्र ही बड़ा भारी बंधन है और उस तृष्णामात्रका त्याग ही मोक्ष कहाता है, क्योंकि संसारके विषे आसक्तिका त्याग करके वारंवार आत्मज्ञानसे उत्पन्न हुआ संतोष ही मोक्ष कहाता है॥ ४ ॥

त्वमेकश्चेतनः शुद्धो जडं विश्वमसत्तथा।
अविद्यापि नकिञ्चित्सा का बुभुत्सातथापिते॥ ५

अन्वयः—त्वम् एकः चेतनः शुद्धः (असि, इदं) विश्वम् जडम् तथा असत् (अस्ति) 'अविद्या अपि किंचित् न तथा ते सा बुभुत्सा अपि का॥ ५॥

इसमें शंका होती है कि, यदि तृष्णामात्रही बन्धन है तव तो आत्मप्राप्तिकी तृष्णा भी बन्धन हो जायगी। तव गुरु कहते हैं कि—इस संसारमें आत्मा, जगत् और अविद्या ये तीन ही पदार्थ हैं। इन तीनोंमें आत्मा (तू) तो अद्वितीय, चेतन एवं शुद्ध है। इन चैतन्यस्वरूप पूर्णरूप आत्माके जाननेकी इच्छा तृष्णा बंधन नहीं होती है, क्योंकि आत्मभिन्न जड़ पदार्थोंके विषे इच्छा करना ही तृष्णा कहाती है, क्योंकि जड अनित्य होनेके कारण

जगत्के विषे इच्छा करना वंध्यापुत्रके समान मिथ्या है, इच्छासे किसी प्रकारकी सिद्धि नहीं होती है । किसी प्र मायाके जाननेकी इच्छा (तृष्णा) करना भी निरर्थक ही क्योंकि माया सत्रूप करके अथवा असत्रूप करके कहीं नहीं आती है ॥ ५ ॥

राज्यं सुताः कलत्राणि शरीराणि सुखानि च।
संसक्तस्यापि नष्टानि तव जन्मनि जन्मनि॥६॥

अन्वयः—संसक्तस्य अपि तव राज्यम् सुताः कलत्राणि शरीरा सुखानि च जन्मनि जन्मनि नष्टानि ॥ ६ ॥

अब संसारकी जड़ता और अनित्यताको दिखाते हैंः—हे शिष्य राज्य, पुत्र, स्त्री, शरीर और सुख इनके विषे तूने अत्यन्त प्रीति की तो भी जन्म जन्ममें नष्ट हो गये, इस कारण " संसा अनित्य है " ऐसा जानना चाहिये ॥ ६ ॥

अलमर्थेन कामेन सुकृतेनापि कर्मणा ।
एभ्यः संसारकान्तारे न विश्रान्तमभून्मनः॥७॥

अन्वयः—अर्थेन कामेन, सुकृतेन कर्मणा अपि अलम्, (यतः) संसा कांतारे एभ्यः मनः विश्रान्तम् न अभूत् ॥ ७ ॥

अब धर्म अर्थ कामरूप त्रिवर्गकी इच्छाका निषेध करते हैं:- हे शिष्य ! धनके विषे, कामके विषे और सकाम कर्मोंके विषे भी

कामना न करके अपने आनन्दस्वरूपके विषे परिपूर्ण रहै, क्योंकि संसाररूपी दुर्गममार्गके विषे भ्रमता हुआ मन इन धर्म-अर्थ-कामसे विश्रामको कदापि नहीं प्राप्त होगा तो कदापि संसारबन्धनका नाश नहीं होगा ॥ ७ ॥

कृतं न कति जन्मानि कायेन मनसा गिरा ।
दुःखमायासदं कर्म तदद्याप्युपरम्यताम् ॥ ८ ॥

अन्वयः-(हे शिष्य !) आयासदम् दुःखम् कर्म कायेन, मनसा, गिरा कति जन्मानि न कृतम् तत् अद्य अपि उपरम्यताम् ॥ ८ ॥

अब क्रियामात्रके त्यागका उपदेश करते हैंः-हे शिष्य ! महाक्लेश और दुःखोंका देनेवाला कार्य काय, मन और वाणीसे कितने जन्मोंपर्यंत नहीं किया ? अर्थात् अनेक जन्मोंमें किया और उन जन्मजन्ममें किये हुए कर्मोंसे तूने अनर्थ ही पाया, इस कारण अब तो उन कर्मोंका त्याग करे ॥ ८ ॥

इति श्रीमदष्टावक्रमुनिविरचितायां ब्रह्मविद्यायां भाषाटीकया सहितं गुरुप्रोक्तमुपशमाष्टकं नाम दशमं प्रकरणं समाप्तम् ॥ १० ॥

अथैकादशप्रकरणम् ११.

भावाभावविकारश्च स्वभावादिति निश्चयी ।
निर्विकारो गतक्लेशः सुखेनैवोपशाम्यति ॥ १ ॥

अन्वयः–भावाभावविकारः स्वभावात् (जायते) इति निश्चयी (पुरुषः) निर्विकारः गतक्लेशः च (सन्) सुखेन एव उपशाम्यति ॥ १ ॥

पूर्वोक्त शान्ति ज्ञानसे ही होती है अन्यथा नहीं होती इसका बोध करनेके निमित्त आठ श्लोकोंसे ज्ञानका वर्णन करते हुए प्रथम ज्ञानके साधनोंका वर्णन करते हैंः–किसी वस्तुका भाव और किसी वस्तुका अभाव यह जो विकार है सो तो स्वभाव (माया) और पूर्वसंस्कारके अनुसार होता है, आत्माके सकाशसे नहीं होता है, ऐसा निश्चय जिस पुरुषको होता है वह पुरुष अनायाससे ही शांतिको प्राप्त होजाता है ॥ १ ॥

ईश्वरः सर्वनिर्माता नेहान्य इति निश्चयी ।
अन्तर्गलितसर्वाशः शान्तः क्वापि न सज्जते २

अन्वयः–इह सर्वनिर्माता ईश्वरः अन्यः न इति निश्चयी (पुरुषः) अन्तर्गलितसर्वाशः शान्तः (सन्) क्व आपि न सज्जते ॥ २ ॥

यहां शिष्य शंका करता है कि, माया तो जड है, उसके सकाशसे भावाभावरूप संसारकी उत्पत्ति किस प्रकार हो सकती है ? उसका गुरु समाधान करते हैं कि, संपूर्ण जगत् रचनेवाला एक ईश्वर है, अन्य जीव जगत्का रचनेवाला नहीं है, क्योंकि " जीव ईश्वरके वशीभूत हैं " इस प्रकार निश्चय करनेवाला पुरुष ऐसे निश्चयके प्रभावसे ही दूर हो गई है सब प्रकारकी तृष्णा जिसकी ऐसा और शान्त (निश्चल-चित्त) होकर कहीं भी आसक्त नहीं होता ॥ २ ॥

आपदः सम्पदः काले दैवादेवेति निश्चयी।
तृप्तः स्वस्थेन्द्रियो नित्यं न वाञ्छति न शोचति ३

अन्वयः—काले आपदः सम्पदः (च) दैवात् एव (भवन्ति) इति निश्चयी तृप्तः (पुरुषः) नित्यम् स्वस्थेन्द्रियः (सन्) न वाञ्छति न शोचति ३॥

यहां शंका होती है कि, यदि ईश्वर ही संसारको रचनेवाला है तो किन्हीं पुरुषोंको दरिद्री करता है, किन्हींको धनी करता है और किन्हींको सुखी करता है तथा किन्हींको दुःखी करता है, इस कारण ईश्वरके विषे वैषम्य और नैर्घृण्य दोष आवेगा ? तब गुरु कहते हैं कि, किसी समयमें आपत्तियें और किसी समयमें संपत्तियें, ये अपने प्रारब्धसे होती हैं, इस कारण "ईश्वरके विषे वैषम्य और नैर्घृण्यदोष नहीं लग सकता" इस प्रकार निश्चय करनेवाला पुरुष सब प्रकारकी तृष्णाओंसे रहित और विषयोंसे चलायमान नहीं हुई हैं इन्द्रियें जिसकी ऐसा होकर अप्राप्त वस्तुकी इच्छा नहीं करता है और नष्ट हुई वस्तुका शोक नहीं करता है॥ ३॥

सुखदुःखे जन्ममृत्यू दैवादेवेति निश्चयी।
साध्यादर्शी निरायासः कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥ ४॥

अन्वयः—सुखदुःखे, जन्ममृत्यू (च) दैवात् एव (भवन्ति) इति निश्चयी साध्यादर्शी निरायासः (पुरुषः कर्माणि) कुर्वन् अपि न लिप्यते ॥ ४ ॥

फिर शिष्य शंका करता है कि, हे गुरो ! पूर्वोक्त निश्चय युक्त पुरुष भी कर्म करता हुआ देखनेमें आता है सो कैसे हो

सकता है ? इसका गुरु समाधान करते हैं कि, कर्मके फल
सुखदुःख और जन्ममृत्यु प्रारब्धके अनुसार होते हैं, इस प्र
निश्चयवाला पुरुष ऐसी दृष्टि नहीं करता है कि " अमुक
मुझे करना चाहिये " और इसी कारण कर्म करनेमें परि
नहीं करता और प्रारब्धकर्मानुसार कर्म करके लिप्त भी नहीं हो
अर्थात् पापपुण्यरूप फलका भोगनेवाला नहीं होता, क्योंकि
पुरुषको " मैं कर्ता हूँ " ऐसा अभिमान नहीं होता है ॥ ४

चिन्तया जायते दुःखं नान्यथेहेति निश्चयी ।
तया हीनःसुखी शान्तः सर्वत्र गलितस्पृहः ॥५

अन्वयः—इह दुःखं चिन्तया जायते अन्यथा न, इति निश्चयी (पुरु
तया हीनः (सन्) सुखी, शान्तः, सर्वत्र गलितस्पृहः (भवति) ॥५

अब शंका होती है कि, यह कैसे हो सकता है कि, कर्म क
भी पापपुण्यरूप फलका भोक्ता नहीं होता ? तब गुरु कहते हैं
इस संसारके विषे दुःखमात्र चिन्तासे उत्पन्न होता है; किसी अ
कारणसे नहीं होता है, इस प्रकार निश्चयवाला चिन्तारहित पु
शान्ति तथा सुखको प्राप्त होता है और उस पुरुषकी सम्पू
विषयोंसे अभिलाषा दूर हो जाती है ॥ ५ ॥

नाहं देहो न मे देहो बोधोऽहमिति निश्चयी ।
कैवल्यमिव संप्राप्तो न स्मरत्यकृतं कृतम् ॥६

अन्वयः—अहम् देहः न, मे देहः न,(किंतु)अहम् बोधः इति निश्चयीं पुरुषः) कैवल्यम् संप्राप्तः इव कृतम् अकृतं न स्मराति ॥ ६ ॥

अब पूर्वोक्त साधनोंसे युक्त ज्ञानियोंकी दशाको निरूपण करते हैं:—"मैं देह नहीं हूँ तथा मेरा देह नहीं है, किन्तु मैं ज्ञानस्वरूप हूँ" इस प्रकार जिस पुरुषका निश्चय हो जाता है वह पुरुष ज्ञानके द्वारा अभिमानके नाश होनेके कारण मुक्तिदशाको प्राप्त हुए पुरुषके समान कर्म--अकर्मका स्मरण नहीं करता, अर्थात् उसके विषे लिप्त नहीं होता ॥ ६ ॥

आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तमहमेवेतिनिश्चयी।
निर्विकल्पःशुचिःशान्तःप्राप्ताप्राप्तविनिर्वृतः॥ ७

अन्वयः—आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तम् अहम् एव इति निश्चयी (पुरुषः) निर्विकल्पः शुचिः (तथा) शांतः(सन्) प्राप्ताप्राप्तविनिर्वृतः (भवति)७॥

ब्रह्मासे लेकर तृणपर्यंत सम्पूर्ण जगत् मैं ही हूँ, इस प्रकार निश्चयवाले पुरुषके संकल्प विकल्प नष्ट हो जाते हैं, विषयासक्तिरूपमलसे रहित हो जाता है, उस पुरुषका महापवित्र जो आत्मा सो प्राप्त और अप्राप्त वस्तुकी इच्छासे रहित होकर परम सन्तोषको प्राप्त होता है ॥ ७ ॥

नानाश्चर्यमिदं विश्वं न किंचिदिति निश्चयी।
निर्वासनःस्फूर्तिमात्रोनाकिञ्चिदितिशाम्यति॥८॥

अन्वयः–नानाश्चर्यम् इदम् विश्वम् किञ्चित् न इति निश्चयी (पुरु
निर्वासनः स्फूर्तिमात्रः (सन्) न किञ्चित् इति शाम्यति ॥ ८ ॥

यहां शंका होती है कि, ज्ञानीके संकल्प विकल्प स्वयं किस प्रकार नष्ट हो जाते हैं ? अधिष्ठानरूप ब्रह्मका साक्षात् ज्ञान होनेपर जगत् कल्पित प्रतीत होने लगता है और नाना वाला जगत् भी ज्ञानका आत्मस्वरूप ही प्रतीत होता है कि, सम्पूर्ण जगत् मेरी (आत्माकी) सत्तासे ही स्फुरित होता है निश्चय होते ही ज्ञानीकी सम्पूर्ण वासना नष्ट हो जाती है चैतन्यस्वरूप हो जाते हैं और उसको कोई व्यवहार शेष रहता है, इस कारण शांतिको प्राप्त हो जाता है और उस ज्ञानी कार्यकारण रूप उपाधि नष्ट हो जाती है, क्योंकि ज्ञानी सम्पूर्ण जगत् स्वप्नके समान भासने लगता है ॥ ८ ॥

इति श्रीमदष्टावक्रमुनिविरचितायां ब्रह्मविद्यायां भाषाटीकया सहितं ज्ञानाष्टकं नामैकादशं प्रकरणं समाप्तम् ॥ ११ ॥

अथ द्वादशं प्रकरणम् १२.

कायकृत्यासहः पूर्वं ततो वाग्विस्तरासहः ।
अथ चिंतासहस्तस्मादेवमेवाहमास्थितः ॥ १

अन्वयः–पूर्वम् कायकृत्यासहः, ततः वाग्विस्तरासहः, अथ चिंता
तस्मात् अहम् एवम् एव आस्थितः (अस्मि) ॥ १ ॥

पूर्व कारणके विषे ज्ञानाष्टकसे वर्णन किये हुए विषयको ही शिष्य अपने विषे दिखाता है, शिष्य कहता है कि, (हे गुरो !) प्रथम मैंने आपकी कृपासे कायिक क्रियाओंका त्याग किया, तदनन्तर वाणीके जपरूप कर्मका त्याग किया, इस कारण ही मनके संकल्पविकल्परूप कर्मका त्याग किया, इस प्रकार मैं सम्पूर्ण व्यवहारोंका त्याग करके केवल चैतन्यस्वरूप आत्माका आश्रय करके स्थितहूं ॥ १ ॥

प्रीत्यभावेन शब्दादेरदृश्यत्वेन चात्मनः ।
विक्षेपैकाग्रहृदय एवमेवाहमास्थितः ॥ २ ॥

अन्वयः—शब्दादेः प्रीत्यभावेन; आत्मनः च अदृश्यत्वेन विक्षेपैकाग्रहृदयः अहम् एवम् एव आस्थितः (अस्मि) ॥ २ ॥

उपरोक्त तीन प्रकारके कायिक आदि व्यापारोंके त्यागनेमें कारण दिखाते हैं कि--नाशवान् फलके उत्पन्न करनेवाले शब्दादि विषयोंके विषे प्रीति न होनेसे और आत्माके अदृश्य होनेसे मेरा हृदय तीनों प्रकारके विक्षेपोंसे रहित और एकाग्र है, अर्थात् नाशवान् स्वर्गादि फल देनेवाले जप आदिके विषे प्रीति न होनेसे तो मेरे विषे जपरूप विक्षेप नहीं है और आत्मा अदृश्य है, इस कारण आत्मा ध्यानका विषय नहीं है,इस कारण चिन्तारूप मनका विक्षेप भी मेरे विषे नहीं है, इससे मैं आत्मस्वरूप करके स्थित हूँ ॥ २॥

समाध्यासादिविक्षिप्तौ व्यवहारः समाधये ।
एवं विलोक्य नियममेवमेवाहमास्थितः ॥ ३ ॥

अन्वयः—समाध्यासादिविक्षिप्तौ (सत्याम्) समाधये व्यवहारः(भवति) एवम् नियमं विलोक्य अहम् एवम् एव आस्थितः (अस्मि) ॥ ३ ॥

यहां शंका होती है कि, किसी प्रकारका विक्षेप न होने भी समाधिके अर्थ तो व्यवहार करनाही पडेगा ? इसका समाधान करते हैं कि, यदि कर्तृत्व—भोक्तृत्वका अध्यास विशेष होता अर्थात् "मैं कर्ता हूँ मैं भोक्ता हूँ" इत्यादि मिथ्या अध्यासरूप विक्षेप यदि होता तो उसकी निवृत्ति अर्थ समाधिके निमित्त व्यवहार करना पड़ता, यदि ऐसा अध्यास नहीं होता तो समाधिके निमित्त व्यवहार नहीं करना पड़ता; इस प्रकारके नियमको देखकर शुद्ध आत्मज्ञानका आश्रय लेनेवाले मेरे विषे अध्यास न होनेके कारण समाधिशून्य मैं आत्मस्वरूपके विषे स्थित हूँ ॥ ३ ॥

हेयोपादेयविरहादेवं हर्षविषादयोः ।
अभावादद्य हे ब्रह्मन्नेवमेवाहमास्थितः ॥ ४ ॥

अन्वयः—हे ब्रह्मन् ! हेयोपादेयविरहात् एवम् हर्षविषादयोः अभावात् अद्य अहम् एवम् एव आस्थितः (अस्मि) ॥ ४ ॥

शिष्य कहता है कि, हे गुरो ! मैं तो पूर्णस्वरूप हूँ, इस कारण किसका त्याग करूं और किसका ग्रहण करूं ? अर्थात्

मेरेको न कुछ त्यागने योग्य है और न कुछ ग्रहण करने योग्य है इसी प्रकार मेरेको किसी प्रकारका हर्ष, शोक भी नहीं है, मैं तो इस समय केवल आत्मस्वरूपके विषे स्थित हूं॥ ४ ॥

आश्रमानाश्रमं ध्यानं चित्तस्वीकृतवर्जनम् ।
विकल्पं मम वीक्ष्यैतैरेवमेवाहमास्थितः ॥ ५ ॥

अन्वयः-आश्रमानाश्रमम् ध्यानम् चित्तस्वीकृतवर्जनम् एतैः एव मम विकल्पं वीक्ष्य अहम् एवम् एव आस्थितः (अस्मि) ॥ ५ ॥

म मन और बुद्धिसे परे हूं, इस कारण मेरे विषे वर्णाश्रमके विषे विहित ध्यान—कर्म और संकल्प, विकल्प नहीं हैं, मैं सबका साक्षी हूं, ऐसा विचार कर आत्मस्वरूपके विषे स्थित हूं ॥ ५ ॥

कर्मानुष्ठानमज्ञानाद्यथैवोपरमस्तथा ।
बुध्वा सम्यगिदं तत्त्वमेवमेवाहमास्थितः ॥ ६ ॥

अन्वयः-यथा अज्ञानात् कर्मानुष्ठानम् तथा एव उपरमः (भवति) इदं तत्त्वं सम्यक् बुद्धा अहम् एवम् एव आस्थितः (अस्मि) ॥ ६ ॥

जिस प्रकार कर्मानुष्ठान (कर्म करना) अज्ञानसेही होता है इसी प्रकार कर्मका त्याग भी अज्ञानसेही होता है, क्योंकि, आत्माके विषे त्यागना और ग्रहण करना कुछ भी नहीं बनता है, इस तत्त्वको यथार्थ रीतिसे जानकर मैं आत्मस्वरूपके विषेही स्थित हूं ॥ ६ ॥

अचिन्त्यं चिन्त्यमानोऽपि चिंतारूपं भजत्यसौ ।
त्यक्त्वा तद्भावनं तस्मादेवमेवाहमास्थितः ॥७॥

अन्वयः-अचिन्त्यं चिन्त्यमानः अपि असौ चिन्तारूपं भजति तस्मा[त्]
तद्भावनम् त्यक्त्वा अहम् एवम् एव आस्थितः (अस्मि) ॥ ७ ॥

अचिंत्य जो ब्रह्म है उसको चिंतन करता हुआ भी [यह]
पुरुष आत्मचिंतामय रूपको प्राप्त होता है, इस कारण ब्रह्म
चिंतनका त्याग करके मैं आत्मस्वरूपके विषे स्थित हूं ॥ ७ ॥

एवमेव कृतं येन स कृतार्थो भवेदसौ ।
एवमेव स्वभावो यः स कृतार्थो भवेदसौ ॥८॥

अन्वयः-येन एवं कृतम् सः असौ कृतार्थः भवेत्, यः एवम् एव स्वभा[वः]
सः असौ कृतार्थः भवेत् ॥ ८ ॥

जिस पुरुषने इस प्रकार आत्मस्वरूपको साधनोंके द्वा[रा]
सर्वक्रियारहित किया है वह कृतार्थ है और जो विना साधनों[के]
ही स्वभावसे क्रियारहित शुद्ध आत्मस्वरूपके ज्ञानवाला है, उ[सके]
कृतार्थ होनेमें तो कहना ही क्या है ? ॥ ८ ॥

इति श्रीमदष्टावक्रमुनिविरचितायां ब्रह्मविद्यायां भाषाटीकया सहितमेवमेवाष्टकं
नाम द्वादशं प्रकरणं समाप्तम् ॥ १२ ॥

अथ त्रयोदशं प्रकरणम् १३.

अकिञ्चनभवं स्वास्थ्यं कौपीनत्वेऽपिदुर्लभम्।
त्यागादानेविहायास्मादहमासेयथासुखम् ॥१॥

अन्वयः—कौपीनत्वे अपि अकिञ्चनभवं स्वास्थ्यं दुर्लभम्, अस्मात् अहम् त्यागादाने विहाय यथासुखम् आसे ॥ १ ॥

अब जीवन्मुक्ति अवस्थाका फल जो परम सुख, उसका वर्णन करते हैं, सम्पूर्ण विषयोंके विषे आसक्तिके त्याग करनेसे उत्पन्न होनेवाली चित्तकी स्थिरता कौपीनमात्रमें आसक्ति करनेसे भी नहीं प्राप्त होती, इस कारण मैं त्याग और ग्रहणके विषे आसक्तिका त्याग करके सर्वदा सुखरूपसे स्थित हूं ॥ १ ॥

कुत्रापि खेदः कायस्य जिह्वा कुत्रापि खिद्यते।
मनःकुत्रापि तत्त्यक्त्वापुरुषार्थेस्थितःसुखम्।२।

अन्वयः—कुत्र अपि कायस्य खेदः (भवति) कुत्र अपि जिह्वा (खिद्यते) कुत्र अपि मनः (खिद्यते) (अतः) तत्र त्यक्त्वा सुखं यथा (स्यात्तथा) पुरुषार्थे स्थितः (अस्मि) ॥ २ ॥

यदि व्रत तीर्थादि सेवन करे तो शरीरको खेद होता है और यदि गीताभागवतादि स्तोत्रोंका पाठ किया जाय तो जिह्वाको खेद होता है और यदि ध्यान समाधि की जाय तो मनको खेद होता है, इस

कारण मैं इन तीनों दुःखोंका त्याग करके सुखपूर्वक आत्म-
स्वरूपके विषे स्थित हूँ ॥ २ ॥

कृतं किमपि नैव स्यादितिसंचिन्त्य तत्त्वतः ।
यदा यत्कर्तुमायातितत्कृत्वासेयथासुखम् ॥ ३ ॥

अन्वयः—कृतं किम् अपि तत्त्वतः न एव स्यात् इति संचिन्त्य यदा य-
कर्तुम् आयाति तत् कृत्वा यथासुखम् आसे ॥ ३ ॥

वादी शंका करता है कि वाणी, मन और शरीर इन तीनोंके
व्यापारका त्याग होनेसे तो तत्काल शरीरका नाश हो जायगा
क्योंकि इस प्रकारके त्यागसे अन्नजलका भी त्याग हो जायगा
फिर शरीर किस प्रकार रह सकेगा ? इसका समाधान करते हैं—
शरीर इन्द्रियादिसे किया हुआ कोई कर्म आत्माका नहीं होसकता
है, इस प्रकार विचार कर जो कर्म करना पड़ता है उस कर्मको
अहंकाररहित करके मैं आत्मस्वरूपके विषे सुखपूर्वक स्थित हूँ॥ ३ ॥

कर्मनैष्कर्म्यनिर्बन्धभावा देहस्थयोगिनः ।
संयोगायोगविरहादहमासे यथासुखम् ॥ ४ ॥

अन्वयः—कर्मनैष्कर्म्यनिर्बंधभावाः देहस्थयोगिनः (भवन्ति) अहम्
संयोगायोगविरहात् यथासुखम् आसे ॥ ४ ॥

फिर वादी शंका करता है कि, या तो कर्ममार्गमें निष्ठा करे
या निष्कर्ममार्गमें ही निष्ठा करे, एक साथ दोनों मार्गोंपर चलना

किस प्रकार हो सकेगा ? तब गुरु कहते हैं:-कर्म और निष्कर्म तो देहका अभिमान करनेवाले योगीको ही होते हैं और मैं तो देहका संयोग वियोग दोनोंका त्यागकर सुखरूप स्थित हूँ ॥ ४ ॥

अर्थानर्थौ न मे स्थित्या गत्या न शयनेन वा।
तिष्ठन्गच्छन्स्वपंस्तस्मादहमासे यथासुखम् ५ ॥

अन्वयः-स्थित्या गत्या (च) मे अर्थानर्थौ न, शयनेन (च) न, तस्मात् तिष्ठन्,गच्छन्, स्वपन् यथासुखम् आसे ॥ ५ ॥

लौकिक व्यवहारके विषे भी मेरेको अभिमान नहीं है, क्योंकि स्थिति, गति तथा शयन आदिसे मेरा कोई हानि, लाभ नहीं होता हे, इस कारण मैं खडा रहूं, वा चलता रहूँ, अथवा शयन करता रहूँ तो उसमें मेरी आसक्ति नहीं होती है, क्योंकि मैं तो सुखपूर्वक आत्मस्वरूपके विषे स्थित हूं ॥ ५ ॥

स्वपतो नास्ति मे हानिः सिद्धिर्यत्नवतोनवा।
नाशोल्लासौ विहायास्मादहमासेयथासुखम् ६॥

अन्वयः-मे स्वपतः हानिः न अस्ति, यत्नवतः वा सिद्धिः न (अस्ति) अस्मात् नाशोल्लासौ विहाय अहं यथासुखम् आसे ॥ ६ ॥

संपूर्ण प्रयत्नोंको त्याग करके शयन करूँ तो मेरी किसी प्रकारकी हानि नहीं है और अनेक प्रकारके उद्यम करूँ तो मेरा किसी

प्रकारका लाभ नहीं है, इस कारण त्याग और संग्रहको छो
मैं सुखपूर्वक आत्मस्वरूपके विषे स्थित हूं ॥ ६ ॥

सुखादिरूपानियमं भावेष्वालोक्य भूरिशः ।
शुभाशुभे विहायास्मादहमासे यथासुखम् ॥

अन्वयः—भावेषु भूरिशः सुखादिरूपानियमम् आलोक्य अस्मात् शुभाशुभे विहाय यथासुखम् आसे ॥ ७ ॥

भाव जो जन्म उनके विषे अनेक स्थानोंमें सुख दुःख धर्मोंकी अनित्यताको देखकर और इसी कारण शुभ और अ कर्मोंको त्यागकर मैं सुखपूर्वक आत्मस्वरूपके विषे स्थित हूँ॥

इति श्रीमदष्टावक्रमुनिविरचितायां ब्रह्मविद्यायां भाषाटीकया सहितं यथासुखसप्तकं नाम त्रयोदशं प्रकरणं समाप्तम् ॥ १३ ॥

अथ चतुर्दशं प्रकरणम् १४.

प्रकृत्या शून्यचित्तो यः प्रमादाद्भावभावनः ।
निद्रितो बोधित इव क्षीणसंसरणो हि सः ॥ १

अन्वयः—प्रकृत्या शून्यचित्तः प्रमादात् भावभावनः यः निद्रितः बोधितः (भवति) सः हि क्षीणसंसरणः ॥ १ ॥

अब शिष्य अपनी सुखरूप अवस्थाका वर्णन करता है कि अपने स्वभावसे तो चित्तके धर्मोंसे रहित है और बुद्धिके प्रारब्धकर्मोंके वशीभूत होकर अज्ञानके कारण संकल्पविकल्प

भावना करता है, जिस प्रकार कोई पुरुष सुखपूर्वक शयन करता हो उसको कोई पुरुष जगाकर काम करावे तो वह काम उस पुरुषके मनकी इच्छाके अनुसार नहीं होता है, किंतु अन्य पुरुषके वशीभूत होकर कार्य करता है, वास्तवमें चित्त कार्यके संकल्पविकल्पसे रहित होता है, इसी प्रकार प्रारब्धकर्मानुसार संकल्प विकल्प करनेवाले पुरुषका चित्त विषयोंसे शान्त अर्थात् संसार रहित होता है ॥ १ ॥

क्व धनानि क्व मित्राणि क्व मे विषयदस्यवः ।
क्व शास्त्रं क्व च विज्ञानं यदा मे गलिता स्पृहा ॥२॥

अन्वयः—यदा मे स्पृहा गलिता (तदा) मे धनानि क्व, मित्राणि क्व, विषयदस्यवः क्व, शास्त्रं क्व, विज्ञानं च क्व ॥ २ ॥

विषयवासनासे रहित पूर्णरूप जो मैं हूँ, सो मेरी यदि इच्छा नष्ट हो गयी तो मेरे धन कहां, मित्रवर्ग कहां, विषयरूप लुटेरे कहां, शास्त्र कहां और विज्ञान कहां ? अर्थात् इनमेंसे किसी वस्तुमें भी मेरी आसक्ति नहीं रहती है ॥ २ ॥

विज्ञाते साक्षिपुरुषे परमात्मनि चेश्वरे ।
नैराश्ये बन्धमोक्षे च न चिन्तामुक्तये मम ॥ ३ ॥

अन्वयः—साक्षिपुरुषे परमात्मनि ईश्वरे च विज्ञाते बन्धमोक्षे च नैराश्यें (सति) मम मुक्तये चिन्ता न ॥ ३ ॥

देह, इन्द्रिय और अन्तःकरणके साक्षी सर्वशक्तिमान् परमात्माका ज्ञान होनेपर पुरुषको बन्ध तथा मोक्षकी आशा नहीं होती है और मुक्तिके लिये भी चिन्ता नहीं होती है ॥ ३ ॥

अन्तर्विकल्पशून्यस्य बहिःस्वच्छन्दचारिणः ।
भ्रान्तस्येवदशास्तास्तास्तादृशा एव जानते ४॥

अन्वयः–अंतर्विकल्पशून्यस्य भ्रान्तस्य इव बहिः स्वच्छन्दचारिणः (ज्ञानिनः) ताः ताः दशाः तादृशाः एव जानते ॥ ४ ॥

अन्तःकरणके विषे संकल्पविकल्पसे रहित और बाहर भ्रांत (पागल) पुरुषके समान स्वच्छन्द होकर विचरनेवाले ज्ञानीकी उन उन दशाओंको वैसेही ज्ञानी पुरुष जानते हैं ॥ ४ ॥

इति श्रीमदष्टावक्रमुनिविरचितायां ब्रह्मविद्यायां सान्वयभाषाटीकयासहितं शांतिचतुष्टयं नाम चतुर्दशं प्रकरणं समाप्तम् ॥ १४ ॥

अथ पञ्चदशं प्रकरणम् १५.

यथातथोपदेशेन कृतार्थः सत्त्वबुद्धिमान् ।
आजीवमपि जिज्ञासुः परस्तत्र विमुह्यति ॥ १ ॥

अन्वयः–सत्त्वबुद्धिमान् (शिष्यः) यथातथा उपदेशेन कृतार्थः (भवति) परः आजीवम् जिज्ञासुः अपि तत्र विमुह्यति ॥ १ ॥

यद्यपि गुरुने शिष्यके अर्थ पहिले आत्मतत्त्वका उपदेश किया है तथा शास्त्रमें ऐसा नियम है कि, कठिनतासे जानने योग्य होनेके कारण शिष्योंके अर्थ आत्मतत्त्वका वारंवार उपदेश करना चाहिये और छान्दोग्य उपनिषद्के विषे गुरुने शिष्यके अर्थ वारंवार आत्मतत्त्वका उपदेश किया है, इस कारण गुरु फिर भी शिष्यके अर्थ आत्मतत्त्वका उपदेश करते हुए प्रथम ज्ञानके अधिकारी और अनधिकारीका वर्णन करते हैं:-जिसकी बुद्धि सात्त्विकी होती है वह शिष्य यथाकथंचित् उपदेश श्रवण करके भी कृतार्थ होजाता है, इसी कारण सत्ययुगके विषे जो केवल एक अक्षर ब्रह्म ॐकार है; उसके ही उपदेशमात्रसे अनेक शिष्य कृतार्थ हो गये, अर्थात् ज्ञानको प्राप्त होगये और जिनकी तामसी बुद्धि होती है, उनको मरणपर्यन्त उपदेश करो तो भी आत्मस्वरूपका ज्ञान नहीं होता, किन्तु महामोहमें पड़े रहते हैं। जैसे-प्रह्लादजीका पुत्र विरोचन दैत्य था, उसको ब्रह्माजीने अनेक वार उपदेश किया, तो भी वह महामोहयुक्त ही रहा, क्योंकि वह तामसी बुद्धिवाला था॥१

मोक्षो विषयवैरस्यं बन्धो वैषयिको रसः।
एतावदेव विज्ञानं यथेच्छसि तथा कुरु ॥ २ ॥

अन्वयः-विषयवैरस्यं मोक्षः, वैषयिकः रसः बन्धः विज्ञानम् एतावत् एव; यथा इच्छसि तथा कुरु ॥ २ ॥

अब बन्ध और मोक्षका स्वरूप दिखाते हैंः—विषयोंके वि आसक्ति न करना यही ' मोक्ष ' है और विषयोंमें प्रीति कर यही ' बन्धन ' है । इतना ही गुरु और वेदांतके वाक्योंसे जान योग्य है, इस कारण हे शिष्य! जैसी तेरी रुचि हो वैसा कर॥२

वाग्मिप्राज्ञमहोद्योगं जनं मूकजडालसम् ।
करोति तत्त्वबोधोऽयमतस्त्यक्तो बुभुक्षुभिः॥३॥

अन्वयः—अयं तत्त्वबोधः वाग्मिप्राज्ञमहोद्योगं जनं मूकजडालसं करो अतः बुभुक्षुभिः त्यक्तः ॥ ३ ॥

अब इस बातका वर्णन करते हैं कि—तत्त्वज्ञानके सिवाय कि अन्यसे विषयासक्तिका नाश नहीं हो सकता हैः—यह प्रसि तत्त्वज्ञान वाचाल पुरुषको मूक (गूँगा) कर देता है, पण्डित जड कर देता है, परम उद्योगी पुरुषको भी आलसी कर देता है क्योंकि मनके प्रत्यगात्माके विषे लगनेसे ज्ञानीकी वाणी, और शरीरकी वृत्तियें नष्ट हो जाती हैं, इसी कारण विषयभोग लालसा करनेवाले पुरुषोंने आत्मज्ञानका अनादर कर रक्खा है

न त्वं देहो न ते देहो भोक्ता कर्त्ता न वा भवान्।
चिद्रूपोऽसि सदा साक्षी निरपेक्षः सुखं चर॥४॥

अन्वयः—हे शिष्य ! त्वम् देहः न, (तथा) ते देहः न, भवान् क वा भोक्ता न, (यतः) (भवान्) चिद्रूपः, सदा साक्षी असि (अतः निरपेक्षः (सन्) सुखं चर ॥ ४ ॥

अब तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिके अर्थ गुरु उपदेश करते हैं:-हे शिष्य! तू देहरूप नहीं है तथा तेरा देह नहीं है, क्योंकि तू चैतन्यरूप है। इसी प्रकार तू कर्मोंका करनेवाला तथा कर्मफलका भोगनेवाला नहीं है, क्योंकि कर्म करना और फल भोगना यह मन और बुद्धिके धर्म हैं और तू तो मन और बुद्धिसे भिन्न साक्षीमात्र इस प्रकार है-जिस प्रकार घटका देखनेवाला घटसे भिन्न होता है, इस कारण हे शिष्य! देहके संबन्धी जो स्त्री पुत्रादि हैं उनसे उदासीन होकर सुखपूर्वक विचर ॥ ४ ॥

रागद्वेषौ मनोधर्मौ न मनस्ते कदाचन।
निर्विकल्पोऽसि बोधात्मा निर्विकारः सुखं चर॥५॥

अन्वयः-रागद्वेषौ मनोधर्मौ (भवतः) मनः ते (सम्बन्धि) कदाचन न (भवति) (यतः त्वम्) निर्विकल्पः बोधात्मा असि (अतः) निर्विकारः (सन्) सुखं चर ॥ ५ ॥

हे शिष्य! राग और द्वेष आदि मनके धर्म हैं, तेरे नहीं हैं और तेरा मनके साथ कदापि सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि तू संकल्पविकल्परहित ज्ञानस्वरूप है, इस कारण तू रागादिविकाररहित होकर सुखपूर्वक विचर ॥ ५ ॥

सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
विज्ञाय निरहंकारो निर्ममस्त्वं सुखी भव॥६॥

अन्वयः—सर्वभूतेषु च आत्मानम् सर्वभूतानि च आत्मनि विज्ञाय निरहंकारः निर्ममः (सन्) सुखी भव ॥ ६ ॥

आत्मा संपूर्ण प्राणियोंके विषे कारणरूपसे स्थित है और संपूर्ण प्राणी आत्माके विषे अध्यस्त हैं इस प्रकार जानकर ममता और अहंकाररहित होकर सुखपूर्वक स्थित हो ॥ ६ ॥

विश्वं स्फुरति यत्रेदं तरङ्गा इव सागरे ।
तत्त्वमेव न सन्देहश्चिन्मूर्ते विज्वरो भव ॥ ७ ॥

अन्वयः—यत्र इदम् विश्वम् सागरे तरङ्गा इव स्फुरति, तत् त्वम् (अत्र) संदेहः न (अतः) हे चिन्मूर्ते ! (त्वम्) विज्वरः भव ॥ ७ ॥

जिस प्रकार समुद्रके विषे जो तरंग हैं वे कल्पित और अनित्य हैं इसी प्रकार जिस आत्माके विषे यह विश्व कल्पित है वह तू ही है, इसमें कुछ सन्देह नहीं है, इस कारण हे चैतन्यस्वरूप शिष्य ! तू संपूर्ण सन्तापरहित हो ॥ ७ ॥

श्रद्धस्व तात श्रद्धस्व नात्र मोहं कुरुष्व भोः ।
ज्ञानस्वरूपो भगवानात्मा त्वं प्रकृतेः परः ॥ ८ ॥

अन्वयः—भोः तात ! श्रद्धस्व श्रद्धस्व, अत्र मोहम् न कुरुष्व, (यतः) त्वम् ज्ञानस्वरूपः भगवान् प्रकृतेः परः आत्मा (असि) ॥ ८ ॥

हे तात ! गुरु और वेदान्तके वचनोंपर विश्वास कर, विश्वास कर आत्माकी चेतन-स्वरूपताके विषयमें मोह (संशय-विपर्यय-

स्वरूप अज्ञान) मत कर, क्योंकि, तू ज्ञानस्वरूप, सर्वशक्तिमान्, प्रकृतिसे परे, आत्मस्वरूप है ॥ ८ ॥

गुणैः संवेष्टितो देहस्तिष्ठत्यायाति याति च।
आत्मा न गन्ता नागन्ता किमेनमनुशोचसि ९

अन्वयः—गुणैः संवेष्टितः देहः तिष्ठति, आयाति, याति च, आत्मा न गंता, न आगंता (अतः) एनं किम् अनुशोचसि ॥ ९ ॥

गुण इन्द्रिय आदिसे वेष्टित देहही संसारके विषे स्थित रहता है, आता है और जाता है और आत्मा तो न जाता है न आता है, इस कारण "मैं जाऊँगा, मेरा मरण होगा" इत्यादि देहके धर्मोंसे आत्माके विषे शोक मत कर, क्योंकि, आत्मा तो सर्वव्यापी और नित्यस्वरूप है ॥ ९ ॥

देहस्तिष्ठतु कल्पान्तं गच्छत्वद्यैव वा पुनः।
क्क वृद्धिः क्क च वा हानिस्तव चिन्मात्ररूपिणः॥ १०

अन्वयः—देहः कल्पांतं तिष्ठतु, वा पुनः अद्य एव गच्छतु। चिन्मात्ररूपिणः तव क्क हानिः वा क्क च वृद्धिः ॥ १० ॥

हे शिष्य ! यह देह कल्पपर्यंत स्थित रहे, अथवा अब भी नष्ट हो जाय तो उससे तेरी न हानि होती है और न वृद्धि होती है, क्योंकि तू तो केवल चैतन्यस्वरूप है ॥ १० ॥

त्वय्यनन्तमहाम्भोधौ विश्ववीचिः स्वभावतः।
उदेतु वास्तमायातु न ते वृद्धिर्न वा क्षतिः॥ ११॥

अन्वयः-अनन्तमहाम्भोधौ त्वयि स्वभावतः विश्ववीचिः उदेतु अस्तम् आयातु ते न वृद्धिः न वा क्षतिः ॥ ११ ॥

हे शिष्य ! तू चैतन्य अनंतस्वरूप है और जिस प्रका समुद्रके विषे तरंग उत्पन्न होती हैं और लीन हो जाती हैं, उ प्रकार तेरे (आत्माके) विषे स्वभावसे संसारकी उत्पत्ति होक लय हो जाती है, इससे तेरी किसी प्रकारकी हानि अथव वृद्धि नहीं है ॥ ११ ॥

तात चिन्मात्ररूपोऽसि न ते भिन्नमिदं जगत् ।
अतः कस्य कथं कुत्र हेयोपादेयकल्पना ॥ १२

अन्वयः-हे तात ! (त्वम्) चिन्मात्ररूपः असि, इदं जगत् ते भिन्न न, अतः हेयोपादेयकल्पना कस्य कुत्र कथम् (स्यात्) ॥ १२ ॥

हे शिष्य ! तू चैतन्यमात्रस्वरूप है, यह जगत् तुझसे भि नहीं है, इस कारण त्यागना और ग्रहण करना कैसे बन सक हैं और किसका हो सकता है और किसमें हो सकता है ॥ १२

एकस्मिन्नव्यये शान्ते चिदाकाशेऽमले त्वयि ।
कुतो जन्म कुतः कर्म कुतोऽहङ्कार एव च ॥ १३

अन्वयः-एकस्मिन् अव्यये शान्ते चिदाकाशे अमले त्वयि जन्म कु कर्म कुतः, अहङ्कारः च एव कुतः ॥ १३ ॥

हे शिष्य ! तू अविनाशी, एक, शांत, चैतन्याकाशस्व और निर्मलाकाशस्वरूप है, इस कारण तेरा जन्म नहीं होता

तथा तेरें विषे अहंकार होनाभी नहीं घटसकता; क्योंकि, कोई द्वितीय वस्तु हो तो अहंकार होता है, तथा तेरे विषे जन्म होना भी नहीं बन सकता क्योंकि, अहंकारके विना कर्म नहीं होता है, इस कारण तू शुद्धस्वरूप है ॥ १३ ॥

यत्त्वं पश्यसि तत्रैकस्त्वमेव प्रतिभाससे ।
किंपृथक्भासतेस्वर्णात्कटकांगदनूपुरम् ॥ १४ ॥

अन्वयः--यत् त्वं पश्यसि तत्र त्वम् एव एकः प्रतिभाससे, कटकांगद-नूपुरं किम् स्वर्णात् पृथक् भासते ॥ १४ ॥

जिस प्रकार कटक, बाजूबंद और नूपुर आदि आभूषणोंके विषे एक सुवर्णही भासता है, उसी प्रकार जिस जिस कार्यको तू देखता है उस उस कार्यके विषे एक कारणस्वरूप तू ही (आत्मा ही) भासता है ॥ १४ ॥

अयं सोऽहमयं नाहं विभागमिति सन्त्यज ।
सर्वमात्मेतिनिश्चित्यनिःसंकल्पःसुखीभव ॥ १५ ॥

अन्वयः--सः अयम् अयम् अहम्, अहं न इति विभागं संत्यज (तथा) सर्वम् आतमा इति निश्चित्य निःसंकल्पः (सन्) सुखी भव ॥ १५ ॥

यह जो संपूर्ण देह आदि पदार्थ हैं उनका मैं साक्षी हूं और मैं देह, इंद्रिय आदिरूप नहीं हूँ । अथवा " यह मैं हूं और यह मैं नहीं हूं " इस भेदका त्याग करके

और " संपूर्ण जगत् आत्मा ही है " ऐसा निश्चय करके सम्पू
संकल्प विकल्पोंको त्याग कर सुखी हो ॥ १५ ॥

तवैवाज्ञानतो विश्वं त्वमेकः परमार्थतः ।
त्वत्तोऽन्योनास्तिसंसारीनासंसारीचकश्चन १६

अन्वयः–(इदं) विश्वं तव अज्ञानतः एव (भवति) परमार्थतः त्
एकः (एव अतः) संसारी त्वत्तः अन्यः न अस्ति, असंसारी च कश्
(त्वत्तः अन्यः) न अस्ति ॥ १६ ॥

हे शिष्य ! तेरे अज्ञानसे ही यह विश्व भासता है, वास्तवं
संसार कोई नहीं है, परमार्थस्वरूप अद्वितीय तू एक ही है, इ
कारण तुझसे अन्य कोई संसारी अथवा असंसारी नहीं है ॥ १६

भ्रांतिमात्रमिदं विश्वं न किंचिदिति निश्चयी ।
निर्वासनः स्फूर्तिमात्रोनकिंचिदिवशाम्यति॥ १७

अन्वयः–इदम् विश्वम् भ्रांतिमात्रम् किञ्चित् न इति निश्चयी (पुरुषः
निर्वासनः स्फूर्तिमात्रः (सन्) न किञ्चित् इव शाम्यति ॥ १७ ॥

यह विश्व भ्रांतिमात्रसे कल्पित है, वास्तवमें किंचिन्मात्र भी
सत्य नहीं है, इस प्रकार जिसको निश्चय हुआ है वह पुरुष वास
नारहित और प्रकाशस्वरूप होकर केवल चैतन्य स्वरूपके वि
शान्तिको प्राप्त होता है ॥ १७ ॥

एक एव भवाम्भोधावासीदस्ति भविष्यति ।
नतेबन्धोऽस्तिमोक्षोवाकृतकृत्यः सुखंचर ॥ १८॥

अन्वयः—भवाम्भोधौ एकः एव आसीत्, अस्ति, भविष्यति (अतः) ते बन्धः वा मोक्षः न अस्ति(अतः त्वम्)कृतकृत्यः (सन्) सुखं चर ॥१८॥

भूत, भविष्यत् और वर्तमानरूप त्रिकालमें भी इस संसारसमुद्रके विषे तू ही था और तू ही है तथा तू ही होगा अर्थात् इस संसारके विषे सदा एक तू ही रहा इस कारण तेरा बंध और मोक्ष नहीं है, अतः कृतार्थ हुआ तू सुखपूर्वक विचर ॥ १८ ॥

मासंकल्पविकल्पाभ्यांचित्तंक्षोभय चिन्मय।
उपशाम्यसुखंतिष्ठस्वात्मन्यानन्दविग्रहे ॥ १९॥

अन्वयः—हे चिन्मय शिष्य ! संकल्पविकल्पाभ्यां चित्तं मा क्षोभय किन्तु उपशाम्य आनन्दविग्रहे स्वात्मनि सुखम् तिष्ठ ॥ १९ ॥

हे शिष्य ! तू चैतन्यस्वरूप है, संकल्प और विकल्पोंसे चित्तको चलायमान मत कर, किंतु चित्तको संकल्पविकल्पोंसे शांत करके आनंदरूप आत्मस्वरूपके विषे सुखपूर्वक स्थित हो ॥ १९ ॥

त्यजैव ध्यानं सर्वत्र मा किंचिद्धृदि धारय।
आत्मात्वंमुक्तएवासिकिंविमृश्यकरिष्यसि२०॥

अन्वयः—सर्वत्र एव ध्यानं त्यज, हृदि किंचित् अपि मा धारय आत्मा त्वम् मुक्तः एव (अतः) विमृश्य किं करिष्यसि ॥ २० ॥

हे शिष्य ! सर्वत्र ही ध्यानका त्याग कर कुछ भी संकल्प विकल्प हृदयके विषे धारण मत कर, क्योंकि आत्मरूप तू सदा

मुक्त ही है, फिर विचार (ध्यान) करके और क्या फल प्राप्त करेगा ॥ २० ॥

इति श्रीमदष्टावक्रमुनिविरचितायां ब्रह्मविद्यायां भाषाटीकया सहितं तत्त्वोपदेशविंशतिकं नाम पञ्चदशं प्रकरणं समाप्तम् ॥ १५ ॥

अथ षोडशं प्रकरणम् १६.

आचक्ष्व शृणु वा तात नानाशास्त्राण्यनेकशः ।
तथापि न तव स्वास्थ्यं सर्वविस्मरणादृते ॥ १ ॥

अन्वयः—हे तात ! नानाशास्त्राणि अनेकशः आचक्ष्व वा शृणु तथापि सर्वविस्मरणात् ऋते तव स्वास्थ्यं न (स्यात्) ॥ १ ॥

अब " तत्त्वज्ञानके उपदेशसे जगत्को आत्मस्वरूपसे देखना और तृष्णाका नाश करना ही मुक्ति कहाती है ' यह विषय वर्णन करते हैं:—हे शिष्य ! तू नाना प्रकारके शास्त्रोंको अनेक वार अन्य पुरुषोंके अर्थ उपदेश कर अथवा अनेक वार श्रवण कर; परंतु सबको भूले विना अर्थात् संपूर्ण वस्तुके भेदका त्याग किये विना स्वस्थता अर्थात् मुक्ति कदापि नहीं होगी, किन्तु सम्पूर्ण वस्तुओंमें भेददृष्टिका त्यागकरनेसे ही मोक्ष होगा इसपर शिष्य शंका करता है कि, सुषुप्ति अवस्थाके विषे किसी वस्तुका भी भान नहीं होता है इस कारण सुषुप्ति—अवस्थामें सम्पू

प्राणीका मोक्ष हो जाना चाहिये। इस शंकाका गुरु समाधान करते हैं कि, सुषुप्तिमें संपूर्ण वस्तुओंका भान तो नहीं रहता है, परन्तु एक अज्ञानका भान रहता है, इस कारण मोक्ष नहीं होता है और जीवन्मुक्तको तो अज्ञान सहित जगत् मात्रका ज्ञान नहीं रहता है, इस कारण उसकी मुक्ति हुई ही समझना चाहिये॥ १॥

भोगं कर्म समाधिं वा कुरु विज्ञ तथापि ते।
चित्तं निरस्तसर्वाशमत्यर्थं रोचयिष्यति॥ २॥

अन्वयः—हे विज्ञ! (त्वम्) भोगं कर्म वा समाधिं कुरु तथापि ते चित्तम् अत्यर्थम् निरस्तसर्वाशं रोचयिष्यति॥ २॥

हे शिष्य! तू ज्ञानसंपन्न होकर विषयभोग कर, अथवा सकाम कर्म कर, अथवा समाधिको कर, तथापि सम्पूर्ण वस्तुओंके विस्मरणसे सब प्रकारकी आशासे रहित तेरा चित्त आत्मस्वरूपके विषेही अधिक रुचिको उत्पन्न करेगा॥ २॥

आयासात्सकलो दुःखी नैनं जानाति कश्चन।
अनेनैवोपदेशेन धन्यः प्राप्नोति निर्वृतिम्॥ ३॥

अन्वयः—सकलः आयासात् दुःखी (भवति) (परंतु) एनं कश्चन न जानाति, अनेन उपदेशेन एव धन्यः निर्वृतिं प्राप्नोति॥ ३॥

प्राणिमात्र विषयके परिश्रमसे दुःखी होते हैं; परन्तु इस वार्ताको कोई नहीं जानता, क्योंकि विषयानन्दके विषे निमग्न

रहता है । जो भाग्यवान् पुरुष होता है वह सद्गुरुसे इस उपदेशको ग्रहण करके परम सुखको प्राप्त होता है ॥ ३ ॥

व्यापारे खिद्यते यस्तु निमेषोन्मेषयोरपि ।
तस्यालस्यधुरीणस्य सुखं नान्यस्य कस्यचित् ॥ ४ ॥

अन्वयः—यः तु निमेषोन्मेषयोः अपि व्यापारे खिद्यते, आलस्य धुरीणस्य तस्य (एव) सुखम् (भवति) अन्यस्य कस्याचित् न ॥ ४ ॥

जो पुरुष नेत्रोंके निमेष—उन्मेषके व्यापारमें अर्थात् नेत्रोंके खोलने मूँदनेमें भी परिश्रम मानकर दुःखित होता है, उस परम आलसीको ही अर्थात् उस निष्क्रिय पुरुषको ही परम सुख मिलता है, अन्य किसीको नहीं ॥ ४ ॥

इदं कृतमिदं नेति द्वन्द्वैर्मुक्तं यदा मनः ।
धर्मार्थकाममोक्षेषु निरपेक्षं तदा भवेत् ॥ ५ ॥

अन्वयः—इदं कृतम्, इदं न (कृतम्)इति द्वंद्वैः यदा मनः मुक्तं (भवति) तदा धर्मार्थकाममोक्षेषु निरपेक्षं भवेत् ॥ ५ ॥

जिसके मनका द्वैतभाव नष्ट हो जाय अर्थात् " यह कार्य करना चाहिये, यह नहीं करना चाहिये " यह विधि—निषेधरूपी द्वन्द्व जिसके मनसे दूर हो जाय वह पुरुष धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारोंमें भी इच्छा न करे, क्योंकि वह पुरुष जीवन्मुक्त अवस्थाको प्राप्त हो जाता है ॥ ५ ॥

विरक्तो विषयद्वेष्टा रागी विषयलोलुपः ।
ग्रहमोक्षविहीनस्तु न विरक्तो न रागवान् ॥ ६ ॥

अन्वयः—विरक्तः विषयद्वेष्टा (भवति), रागी विषयलोलुपः (भवति) ग्रहमोक्षविहीनः तु न विरक्तः (भवति), न रागवान् (भवति) ॥ ६ ॥

जो पुरुष विषयसे द्वेष करता है वह विरक्त कहाता है और जो विषयोंमें अतिलालसा करता है वह रागी (कामुक) कहाता है, परंतु जो ग्रहण और मोक्षसे रहित ज्ञानी होता है, वह न विषयोंसे द्वेष करता है और न विषयोंसे प्रीति करता है, अर्थात् प्रारब्ध योगानुसार जो प्राप्त हो जाता है उसका न त्याग करता है और अप्राप्त वस्तुके मिलनेकी भी इच्छा नहीं करता है, इस कारण जीवन्मुक्त पुरुष विरक्त और रागी दोनोंसे विलक्षण होता है ॥ ६ ॥

हेयोपादेयता तावत्संसारविटपाङ्कुरः ।
स्पृहाजीवति यावद्वै निर्विचारदशास्पदम् ॥ ७ ॥

अन्वयः—निर्विचारदशास्पदं स्पृहा यावत् जीवति (तावत्) वै हेयोपादेयता संसारविटपांकुरः (भवति) ॥ ७ ॥

अब यहां शिष्य शंका करता है कि, ज्ञानियोंके विषय तो त्याग और ग्रहणका व्यवहार देखनेमें आता है ? तब गुरु कहते हैं कि—जिस समयपर्यन्त अज्ञानदशाके निवास करनेको स्थानरूप इच्छा रहती है, उस समयपर्यन्त ही पुरुषका ग्रहण करना और

त्यागनारूप संसाररूपी वृक्षका अंकुर रहता है और ज्ञानियोंके तो इच्छा न होनेके कारण त्यागना और ग्रहण करना देखने मात्र होते हैं ॥ ७ ॥

प्रवृत्तौ जायते रागो निवृत्तौ द्वेष एव हि।
निर्द्वन्द्वो बालवद्धीमानेवमेव व्यवस्थितः ॥ ८ ॥

अन्वयः–हि प्रवृत्तौ रागः, निवृत्तौ एव द्वेषः जायते, (अतः) धीमान् बालवत् निर्द्वन्द्वः (सन्) एवम् एव व्यवस्थितः (भवेत्) ॥ ८ ॥

यदि विषयोंमें प्रीति करे तो प्रीति दिनपर दिन बढ़ती जाती है और विषयोंसे द्वेषपूर्वक निवृत्त हो तो दिनपर दिन विषयोंमें द्वेष होता जाता है, इस कारण ज्ञानी पुरुष शुभ और अशुभके विचार रहित बालकके समान रागद्वेषरहित होकर संगपूर्वक जो विषयोंमें प्रवृत्ति करना और द्वेषपूर्वक जो विषयोंसे निवृत्त होना इन दोनोंसे रहित होकर रहे और प्रारब्ध कर्मानुसार जो प्राप्त हो उसमें प्रवृत्त हो और अप्राप्तिकी इच्छा न करे ॥ ८ ॥

हातुमिच्छति संसारं रागी दुःखजिहासया।
वीतरागो हि निर्मुक्तस्तस्मिन्नपि न खिद्यति ९॥

अन्वयः–रागी दुःखजिहासया संसारं हातुम् इच्छति, हि वीतरागः निर्मुक्तः (सन्) तस्मिन् अपि न खिद्यति ॥ ९ ॥

जो विषयासक्त पुरुष है वह अत्यन्त दुःख भोगनेके अनन्तर दुःखोंके दूर होनेकी इच्छा करके संसारको त्याग करनेकी इच्छा

करता है और जो वैराग्यवान् पुरुष है वह दुःखोंसे रहित हुआ संसारमें रहकर भी खेदको नहीं प्राप्त होता है ॥ ९ ॥

यस्याभिमानो मोक्षेऽपि देहेऽपि ममता तथा ।
न च ज्ञानी न वा योगी केवलं दुःखभागसौ १०

अन्वयः—यस्य मोक्षे अपि अभिमानः तथा देहे अपि ममता असौ न च ज्ञानी न वा योगी (किन्तु) केवलं दुःखभाक् ॥ १० ॥

जिस पुरुषको ऐसा अभिमान है कि " मैं मुक्त हूं, त्यागी हूँ, मेरा शरीर उपवास आदि अनेक प्रकारके कष्ट सहनेमें समर्थ है " इस प्रकार जिसका देहके विषे ममत्व है वह पुरुष न ज्ञानी है, न योगी है, किन्तु केवल दुःखी है, क्योंकि उसका अभिमान और ममता दूर नहीं हुए हैं ॥ १० ॥

हरो यद्युपदेष्टा ते हरिः कमलजोऽपि वा ।
तथापि न तव स्वास्थ्यं सर्वविस्मरणादृते ॥ ११ ॥

अन्वयः—यदि हरः वा हरिः (अथवा) कमलजः अपि ते उपदेष्टा (स्यात्) तथापि सर्वविस्मरणात् ऋते तव स्वास्थ्यं न (स्यात्) ॥ ११ ॥

हे शिष्य ! साक्षात् सदाशिव तथा विष्णु भगवान् और ब्रह्माजी ये तीनों महासमर्थ भी तुझे उपदेश करें तो भी संपूर्ण प्राकृत, अनित्य वस्तुओंकी विस्मृति विना तेरा चित्त शान्तिको प्राप्त नहीं होगा और जीवन्मुक्तदशाका सुख प्राप्त नहीं होगा ११

इति श्रीमदष्टावक्रमुनिविरचितायां ब्रह्मविद्यायां भाषाटीकया सहितं विशेषोपदेशं नाम षोडशं प्रकरणं समाप्तम् ॥ १६ ॥

अथ सप्तदशं प्रकरणम् १७.

तेन ज्ञानफलं प्राप्तं योगाभ्यासफलं तथा ।
तृप्तः स्वच्छेन्द्रियो नित्यमेकाकीरमतेतुयः १॥

अन्वयः—यः तु तृप्तः स्वच्छेन्द्रियः (सन्) नित्यम् एकाकी रमते; तेन ज्ञानफलं तथा योगाभ्यासफलं प्राप्तम् ॥ १ ॥

अब अन्य पुरुषोंकी भी ज्ञानमें प्रवृत्ति होनेके अर्थ तत्त्वज्ञान फलका निरूपण करनेकी इच्छा करते हुए गुरु प्रथम तत्त्वज्ञानकी दशाका निरूपण करते हैं:—जो पुरुष इन्द्रियोंको विषयोंसे हटाकर और अपने स्वरूपमें ही तृप्त होकर विषयसंयोगके विना इकला ही सदा आत्माके विषे रमण करता है, उस पुरुषने ही ज्ञानका तथा योगका फल पाया है ॥ १ ॥

न कदाचिज्जगत्यस्मिंस्तत्त्वज्ञो हन्त खिद्यति ।
यत एकेन तेनेदं पूर्णं ब्रह्माण्डमण्डलम् ॥ २ ॥

अन्वयः—हन्त ! तत्त्वज्ञः कदाचित् अस्मिन् जगति न खिद्यति, यतः एकेन इदं ब्रह्माण्डमण्डलं पूर्णम् ॥ २ ॥

हे शिष्य ! संसारके विषे आत्मतत्त्वज्ञानी कदापि खेदको नहीं प्राप्त होता है, क्योंकि उस इकलेसे ही यह ब्रह्माण्डमंडल पूर्ण है, सो दूसरेके न होनेसे खेद किस प्रकार हो सकता है ? यही श्रुतिमें भी कहा है—“ द्वितीयाद्वै भयं भवति ” ॥ २ ॥

न जातु विषयाः केऽपि स्वारामं हर्षयन्त्यमी ।
सल्लकीपल्लवप्रीतमिवेभं निम्बपल्लवाः ॥ ३ ॥

अन्वयः—सल्लकीपल्लवप्रीतम् इभं निम्बपल्लवाः इव अमी के अपि विषयाः स्वारामं जातु न हर्षयन्ति ॥ ३ ॥

जो निरन्तर आत्माके विषे रमता है वह 'आत्माराम' कहाता है उस आत्माराम पुरुषको जगत्के कोई विषय प्रसन्न नहीं कर सकते । जिस प्रकार एक महामदोन्मत्त हस्ती वनमें हजार हस्तियोंके झुंडमें विहार करता है और परम मधुरस्वादवाली सल्लकी-नामक लताके कोमल पत्तोंका प्रेमपूर्वक भक्षण करता है और कडुवे नीमके पत्तोंसे प्रसन्न नहीं होता है, इसी प्रकार ज्ञानी भी परम मधुर आत्माका स्वाद लेता है और विषयोंके सुखोंको परम कडुआ जानकर त्याग देता है, अर्थात् उनकी ओर दृष्टि भी नहीं देता ॥ ३ ॥

यस्तु भोगेषु भुक्तेषु न भवत्यधिवासिता ।
अभुक्तेषु निराकांक्षी तादृशो भवदुर्लभः ॥ ४ ॥

अन्वयः—यः तु भोगेषु भुक्तेषु अधिवासिता न भवति; (तथा) अभुक्तेषु निराकांक्षी (भवति) तादृशः (पुरुषः) भवदुर्लभः ॥ ४ ॥

जिसकी भोगे हुए विषयोंमें आसक्ति नहीं होती है और नहीं भोगे हुए विषयोंमें अभिलाषा नहीं होती है ऐसा पुरुष संसारमें दुर्लभ है, अर्थात् करोडोंमें एक आदमी होता है ॥ ४ ॥

बुभुक्षुरिहसंसारे मुमुक्षुरपि दृश्यते ।
भोगमोक्षनिराकांक्षी विरलो हि महाशयः ॥ ५ ॥

अन्वयः—इह संसारे बुभुक्षुः मुमुक्षुः अपि दृश्यते, हि भोगमोक्षनिराकांक्षी महाशयः विरलः ॥ ५ ॥

इस संसारमें विषयभोगकी अभिलाषा करनेवाले भी बहुत देखनेमें आते हैं और मोक्षकी इच्छा करनेवाले भी बहुत देखनेमें आते हैं, परंतु विषय भोग और मोक्ष दोनोंकी इच्छा न करनेवाला तथा पूर्णब्रह्मके विषे अंतःकरण लगानेवाला कोई विरला होता है। यही श्रीकृष्ण भगवान्ने भगवद्गीताके विषे कहा है कि "यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः" ॥ ५ ॥

धर्मार्थकाममोक्षेषु जीविते मरणे तथा ।
कस्याप्युदारचित्तस्य हेयोपादेयता न हि ॥ ६ ॥

अन्वयः—धर्मार्थकाममोक्षेषु जीविते तथा मरणे कस्य अपि उदारचित्तस्य हि हेयोपादेयता न (अस्ति) ॥ ६ ॥

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये चार परम फल हैं इनके विषे सम्पूर्ण प्राणियोंका अन्तःकरण बँधा है तथा सम्पूर्ण प्राणियोंको जन्ममरणका भय रहता है, परंतु ज्ञानी पुरुषका मन धर्मादिकके विषे नहीं बँधता है और जो ज्ञानी उन धर्मादिकको सुखरूप जानकर ग्रहण नहीं करता है और दुःखरूप

जानकर त्यागता नहीं है तथा जीवनमरणसे अपनी कुछ वृद्धि और हानि नहीं समझता है ऐसा ज्ञानी कोई विरला ही होता है॥६॥

वांछा न विश्वविलये न द्वेषस्तस्य च स्थितौ ।
यथाजीविकयातस्माद्धन्यआस्ते यथासुखम् ॥

अन्वयः-(यस्य) विश्वविलये वांछा न, तस्य स्थितौ च द्वेषः न (अस्ति) तस्मात् धन्यः (सः) यथाजीविकया यथासुखम् आस्ते ॥७॥

जो ज्ञानी है, उसको इस विश्वके नाशकी इच्छा नहीं होती है तथा इस विश्वकी स्थितिसे द्वेष भी नहीं होता है, क्योंकि वह ज्ञानी तो जानता है कि, सदा सर्वत्र एक ब्रह्म ही प्रकाश कर रहा है और प्रारब्धकर्मानुसार देहको धारण करता है तथा सदा सुखरूप रहता है, ऐसा ज्ञानी पुरुष धन्य है ॥ ७ ॥

कृतार्थोऽनेन ज्ञानेनेत्येवं गलितधीः कृती ।
पश्यञ्छृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्नास्ते यथासुखम् ॥

अन्वयः-अनेन ज्ञानेन (अहम्) कृतार्थः इति एवम् गलितधीः कृती पश्यन्, शृण्वन्, स्पृशन्, जिघ्रन्, अश्नन् यथासुखम् आस्ते ॥ ८ ॥

इस " तत्त्वमसि " आदि महावाक्यके ज्ञानसे मैं कृतार्थ होगया हूँ, ऐसा निश्चय होनेसे देहादिके विषे जिसकी आत्मबुद्धि नष्ट हो गयी है, ऐसा ज्ञानी देखता हुआ श्रवण करता हुआ स्पर्श करता हुआ सूँघता हुआ तथा भक्षण करता हुआ भी

सुखपूर्वक ही स्थित रहता है, अर्थात् "मैं ज्ञानसे कृतार्थ होगया" ऐसी बुद्धिके कारण बाह्य इंद्रियोंका व्यापार होनेपर भी मूर्खके समान ज्ञानीको खेद नहीं होता है ॥ ८ ॥

शून्या दृष्टिर्वृथाचेष्टाविकलानीन्द्रियाणि च।
न स्पृहा न विरक्तिर्वा क्षीणसंसारसागरे ॥ ९ ॥

अन्वयः—क्षीणसंसारसागरे (पुरुषे) दृष्टिः शून्या (चेष्टा वृथा) इन्द्रियाणि च विकलानि, न स्पृहा न वा विरक्तिः ॥ ९ ॥

जिस ज्ञानीका संसारसागर क्षीण हो जाता है उसको विषय-भोगकी इच्छा नहीं होती है और विषयोंसे विरक्ति भी नहीं होती है क्योंकि ज्ञानीकी दृष्टि (मनका व्यापार) शून्य (संकल्पविकल्परहित) होता है और चेष्टा (शरीरका व्यापार) वृथा (फलकी इच्छासे रहित) होता है तथा नेत्र आदि इंद्रियें विकल (समीपमें आये हुए भी विषयोंको यथार्थरूपसे न जाननेवाली) होती हैं। यही भगवद्गीताके विषे कहा भी है—" यस्मिन् जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः " ॥ ९ ॥

न जागर्ति न निद्राति नोन्मीलति न मीलति।
अहो परदशा कापि वर्त्तते मुक्तचेतसः ॥ १० ॥

अन्वयः-न जागर्ति, न निद्राति, न उन्मीलति, न मीलति; अहो! मुक्तचेतसः का अपि परदशा वर्त्तते ॥ १० ॥

न जागता है, न शयन करता है, न नेत्रोंके पलकोंको खोलता है, न मीचता है, अर्थात् संपूर्ण विषयोंको ब्रह्मरूप देखता है, इस कारण आश्चर्य है कि, मुक्त है चित्त जिसका ऐसे ज्ञानीकी कोई परम उत्कृष्ट दशा है ॥ १० ॥

सर्वत्र दृश्यते स्वस्थः सर्वत्र विमलाशयः।
समस्तवासनामुक्तो मुक्तः सर्वत्र राजते॥ ११ ॥

अन्वयः-मुक्तः सर्वत्र स्वस्थः सर्वत्र विमलाशयः(च) दृश्यते, (तथा) समस्तवासनामुक्तः (सन्) सर्वत्र राजते ॥ ११ ॥

जीवन्मुक्त ज्ञानी पुरुष सुख दुःखादि सर्वत्र स्वस्थ चित्तरहनेवाला और शत्रु मित्र आदि सबके विषे निर्मल अंतःकरणवाला (समदर्शी) दीखता है और संपूर्ण वासनाओंसे रहित होकर सब अवस्थाओंके विषे आत्मस्वरूपके विषे विराजमान रहता है॥ ११॥

पश्यञ्छृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गृह्णन्वदन्व्रजन्।
ईहितानीहितैर्मुक्तो मुक्त एव महाशयः॥ १२॥

अन्वयः-पश्यन्, शृण्वन्, स्पृशन्, जिघ्रन्, अश्नन्, गृह्णन्, वदन्, व्रजन् (अपि) ईहितानीहितैः मुक्तः महाशयः मुक्तः एव ॥ १२॥

देखताहुआ, सुनता हुआ, स्पर्श करता हुआ, सूंघता हुआ, भोजन करता हुआ, ग्रहण करता हुआ, कथन करता हुआ, तथा गमन करता हुआ भी इच्छा और द्वेषसे रहित ब्रह्मके विषे चित्त लगानेवाला मुक्त ही है ॥ १२ ॥

न निंदति न च स्तौति न हृष्यति न कुप्यति।
न ददाति न गृह्णाति मुक्तः सर्वत्र नीरसः ॥ १३॥

अन्वयः—मुक्तः न निन्दति, न स्तौति, न हृष्यति, न कुप्यति, न ददाति न च गृह्णाति, (किन्तु) सर्वत्र नीरसः (भवति) ॥ १३ ॥

जो जीवन्मुक्त ज्ञानी है वह किसी वस्तुकी न निंदा करता है न प्रशंसा करता है, सुखसे प्रसन्न और दुःखसे कोपयुक्त नहीं होता है तथा किसीको न कुछ देता है, न कुछ ग्रहण करता है क्योंकि वह जीवन्मुक्त ज्ञानी पुरुष सर्वत्र प्रीतिरहित होता है॥१३॥

सानुरागां स्त्रियं दृष्ट्वा मृत्युं वा समुपस्थितम्।
अविह्वलमनाः स्वस्थो मुक्त एव महाशयः॥ १४॥

अन्वयः—सानुरागां स्त्रियं वा समुपस्थितं मृत्युं दृष्ट्वा अविह्वलमनाः स्वस्थः महाशयः मुक्तः एव ॥ १४॥

परम प्रेम करनेवाली नवयौवना स्त्रीको देखकर अथवा समीपमें आये महाविकराल मृत्यु मूर्तिको देखकर जिसका मन चलायमान नहीं होता है और धैर्ययुक्त रहता है वह आत्मस्वरूपके विषे स्थित ज्ञानी मुक्त ही है ॥ १४ ॥

सुखे दुःखे नरे नार्यां सम्पत्सु च विपत्सु च।
विशेषो नैव धीरस्य सर्वत्र समदर्शिनः ॥ १५॥

अन्वयः—सुखे, दुःखे, नरे, नार्याम्, सम्पत्सु च, विपत्सु च सर्वत्र समदर्शिनः धीरस्य विशेषः न एव ॥ १५ ॥

संपूर्ण वस्तुओंके विषे एक आत्मदृष्टि करनेवाले जिस धीर पुरुषका मन सुखके विषै मनुष्य (कुटुम्ब) के विषे और स्त्रीविलासके विषे तथा संपत्तिके विषे प्रसन्न नहीं होता है और महादुःख विपत्तिके विषे कंपायमान नहीं होता है वही मुक्त है॥ १५॥

न हिंसा नैव कारुण्यं नौद्धत्यं नच दीनता ।
नाश्चर्यं नैव च क्षोभः क्षीणसंसरणे नरे ॥ १६॥

अन्वयः–क्षीणसंसरणे नरे हिंसा न, कारुण्यम् न, औद्धत्यम् न, दीनता च एव न, न आश्चर्यम्, क्षोभः च एव न ॥ १६ ॥

जिस पुरुषका संसार क्षीण हो जाता है अर्थात् देहाभिमान दूर होजाता है उसका जन्ममृत्युरूप बंधन दूर हो जाता है। ऐसे ज्ञानीके मनमें हिंसा (परद्रोह) नहीं होती, दयालुता नहीं होती, उद्धतता नहीं होती, दीनता नहीं रहती, आश्चर्य नहीं रहता और क्षोभ भी नहीं रहता (क्योंकि ज्ञानीका मन ब्रह्माकार होजाता है ॥ १६॥

न मुक्तो विषयद्वेष्टा न वा विषयलोलुपः ।
असंसक्तमना नित्यं प्राप्ताप्राप्तमुपाश्नुते ॥ १७॥

अन्वयः–मुक्तः विषयद्वेष्टा न (भवति) वा विषयलोलुपः(च)न(भवति) (किंतु) नित्यम् असंसक्तमनाः (सन्) प्राप्ताप्राप्तम् उपाश्नुते ॥ १७ ॥

जीवन्मुक्त पुरुष विषयोंमें द्वेष (विषयोंका त्याग) नहीं करता है और विषयोंमें आसक्त भी नहीं होता है, किंतु विषया-

सक्तिरहित है मन जिसका ऐसा होकर नित्य प्रारब्धके अनुसार प्राप्त और अप्राप्तको भोगता है ॥ १७ ॥

समाधानासमाधानाहिताहितविकल्पनाः ।
शून्याचित्तो न जानाति कैवल्यमिवसंस्थितः १८

अन्वयः-शून्याचित्तः कैवल्यं संस्थितः इव समाधानासमाधानाहिताहितविकल्पनाः न जानाति ॥ १८ ॥

शून्य है चित्त जिसका ऐसा जीवन्मुक्त ज्ञानी पुरुष विदेहकैवल्यदशाको प्राप्त हुएके समान समाधान, असमाधान, हित और अहितकी कल्पनाको नहीं जानता है (क्योंकि उसका मन ब्रह्माकार हो जाता है) ॥ १८ ॥

निर्ममो निरहंकारो न किञ्चिदिति निश्चितः ।
अंतर्गलितसर्वाशः कुर्वन्नपि करोति न ॥ १९ ॥

अन्वयः-निर्ममः निरहङ्कारः किञ्चित् न इति निश्चितः अन्तर्गलितसर्वाशः कुर्वन् अपि न करोति ॥ १९ ॥

जिसकी स्त्री पुत्रादि विषे ममता दूर होगयी है और जिसका देहाभिमान दूर होगया है तथा ब्रह्मसे अन्य द्वितीय कोई वस्तु नहीं है, ऐसा जिसे निश्चय होगया है और जिसकी भीतरकी आशा नष्ट होगयी है, ऐसा ज्ञानी पुरुष विषयभोग करता हुआ भी नहीं करता है अर्थात् उसमें आसक्ति नहीं करता है ॥ १९ ॥

मनःप्रकाशसंमोहस्वप्नजाड्यविवर्जितः ।
दशांकामपिसम्प्राप्तोभवेद्गलितमानसः ॥ २० ॥

अन्वयः—मनः प्रकाशसंमोहस्वप्नजाड्यविवर्जितः गलितमानसः काम् अपि दशां सम्प्राप्तः भवेत् ॥ २० ॥

जिसके मन विषे मोह नहीं है ऐसा जो ज्ञानी पुरुष है उसके मनका प्रकाश तथा अज्ञानरूपी जडत्व निवृत्त हो जाता है और उस ज्ञानीकी कोई अनिर्वचनीय दशा हो जाती है, अर्थात् उस ज्ञानीकी दशा किसीके जाननेमें नहीं आती है ॥ २० ॥

इति श्रीमदष्टावक्रमुनिविरचितायां ब्रह्मविद्यायां भाषाटीकया सहितं तत्त्वज्ञस्वरूपविंशतिकं नाम सप्तदशं प्रकरणं समाप्तम् ॥ १७ ॥

अथाष्टदशं प्रकरणम् १८.

यस्य बोधोदये तावत्स्वप्नवद्भवति भ्रमः ।
तस्मै सुखैकरूपाय नमः शान्ताय तेजसे ॥ १ ॥

अन्वयः—यस्य बोधोदये भ्रमः स्वप्नवत् भवति तावत् तस्मै सुखैकरूपाय शांताय तेजसे नमः ॥ १ ॥

इस प्रकरणमें शांतिकी प्रधानता वर्णन करते हुए प्रथमशांतिका वर्णन करते हैं:—यहां प्रथम शांत आत्माको नमस्कार करते हैं, जिस आत्माको ज्ञान होते ही यह प्रत्यक्ष संसार स्वप्नके

समान मिथ्या भासने लगता है, प्रथम उस सुखरूप प्रकाशमान, शांतसंकल्पस्वरूप आत्माके अर्थ नमस्कार है ॥ १ ॥

अर्जयित्वाखिलानर्थान् भोगानाप्नोतिपुष्कलान्।
नहिसर्वपरित्यागमन्तरेण सुखीभवेत् ॥ २ ॥

अन्वयः—अखिलान् अर्थान् अर्जयित्वा पुष्कलान् भोगान् आप्नोति (परन्तु) सर्वपरित्यागमन्तरेण सुखी नहि भवेत् ॥ २ ॥

यहां शांतसंकल्पको ही सुखरूप कहा है इस कारण शंका होती है कि, धनी पुरुष भी तो सुखी होता है, फिर शांतसंकल्पको ही सुखरूप किस प्रकार कहा ? इसका समाधान करते हैं कि, पुरुष धन, धान्य, स्त्री और पुत्र आदि अनेक पदार्थोंको प्राप्त करके अनेक प्रकारके भोगोंको ही भोगता है, परन्तु सुखी नहीं होता है, क्योंकि उन भोगोंके नष्ट होनेपर फिर दुःख प्राप्त होता है इस कारण सम्पूर्ण संकल्पविकल्पोंका त्याग किये विना सुखरूप कदापि नहीं हो सकता ॥ २ ॥

कर्त्तव्यदुःखमार्त्तण्डज्वालादग्धान्तरात्मनः ।
कुतः प्रशमपीयूषधारासारमृते सुखम् ॥ ३ ॥

अन्वयः—कर्त्तव्यदुःखमार्त्तण्डज्वालादग्धांतरात्मनः प्रशमपीयूषधारासारम् ऋते सुखम् कुतः? ॥ ३ ॥

मिथ्यारूप जो संकल्प विकल्प हैं, उनको तुच्छ जानना ही संकल्पविकल्पका त्याग है जैसे वन्ध्या पुत्रको मिथ्यारूप जान

लेना ही त्याग है, क्योंकि मिथ्यारूप वस्तुका अन्य किसी प्रकारका त्याग नहीं हो सकता। यही विषय अन्य रीतिसे दिखाते हैं:-नाना प्रकारके जो कर्म, उन कर्मोंसे उत्पन्न होनेवाले जो दुःख, वही हुआ सूर्यकी किरणोंका अत्यंत तीक्ष्ण ताप उससे दग्ध हुआ है अन्तःकरण जिसका ऐसे पुरुषको संकल्प विकल्पकी शांतिरूप अमृतधाराकी वृष्टिके विना सुख कहांसे हो सकता है? अर्थात् नहीं हो सकता ॥ ३ ॥

भवोऽयं भावनामात्रो न किञ्चित्परमार्थतः।
नास्त्यभावः स्वभावानांभावाभावविभाविनाम्॥४॥

अन्वयः-अयम् भवः भावनामात्रः, परमार्थतः किञ्चित् न (अस्ति) भावाभावविभाविनां स्वभावानाम् अभावः न अस्ति ॥ ४ ॥

अब संसाररूपी विषको दूर करनेवाला होनेके कारण संकल्पविकल्पके शांतिरूपको अमृतरूप करके वर्णन करते हैं:-यह संसार संकल्पमात्र है, वास्तवदृष्टिसे एक आत्माके सिवाय दूसरा कुछ नहीं है। यहां वादी शंका करता है कि, भावरूप जो दृश्यमान जगत् है, सो नष्ट होनेके अनन्तर अभावरूप शून्य हो जाता है? जब इस प्रकार शून्यवादीका मत सिद्ध हुआ तो इसके उत्तरमें श्रीगुरु अष्टावक्रजी कहते हैं कि, संकल्पमात्र जगत्के नाश होनेके अनन्तर सत्यस्वभाव आत्मा अखण्डरूपसे विराजमान रहता है, इस कारण संसारका नाश होनेके अनन्तर शून्य नहीं

रहता है, किन्तु उस समय निर्विकल्प केवलानन्दरूप मुक्त आत्मा रहता है ॥ ४ ॥

न दूरं न च संकोचाल्लब्धमेवात्मनः पदम् ।
निर्विकल्पं निरायासं निर्विकारं निरञ्जनम् ॥५॥

अन्वयः–निर्विकल्पम्, निरायासम्, निर्विकारम्, निरञ्जनम् आत्मनः पदम् न दूरम् न च संकोचात् (किंतु) लब्धम् एव (अस्ति) ॥ ५ ॥

फिर वादी प्रश्न करता है कि, संकल्पविकल्पकी निवृत्ति होते ही आत्माको अमृतत्वकी प्राप्ति किस प्रकार हो जाती है ? तब गुरु कहते हैं कि, आत्मस्वरूप दूर नहीं है, किन्तु सदा प्राप्त है, और परिपूर्ण है, सदा संकल्पविकल्परहित है, निरायास (श्रमके विना) ही प्राप्त है, विकार जो जन्म और मृत्यु हैं उनसे रहित है और निरञ्जन (मायाअविद्यारूप उपाधिसे रहित) है। जिस प्रकार कण्ठमें धारण की हुई मणि भूलसे दूसरे स्थानमें ढूंढनेसे नहीं मिलती है और विस्मृतिके दूर होते ही कण्ठमें प्रतीत हो जाती है इसी प्रकार अज्ञानसे आत्मा दूर प्रतीत होता है, परन्तु ज्ञान होनेपर प्राप्त ही है ॥ ५ ॥

व्यामोहमात्रविरतौ स्वरूपादानमात्रतः ।
वीतशोका विराजन्ते निरावरणदृष्टयः ॥ ६ ॥

अन्वयः–निरावरणदृष्टयः व्यामोहमात्रविरतौ स्वरूपादानमात्रतः वीतशोकाः (संतः) विराजंते ॥ ६ ॥

" तत्त्वज्ञानसे आत्मप्राप्ति होती है " ऐसा जो शास्त्रकारोंका व्यवहार है सो किस प्रकार होता है और यदि आत्मा नित्य प्राप्त ही है तो गुरुके उपदेश और शास्त्राभ्यासकी क्या आवश्यकता है ? इसपर कहते हैं कि, केवल अज्ञानरूपी मोहका परदा पड़ रहा है, इससे आत्मस्वरूपका प्रकाश नहीं होता है; इस कारण सद्गुरुके उपदेशसे मोहको दूर करके जिसने स्वरूपका निश्चय किया है, ऐसा जो ज्ञानी है, वह जगत्‌में शोभायमान होता है और उसकी दृष्टिपर फिर मोहरूपी परदा नहीं पड़ता है ॥ ६ ॥

समस्तं कल्पनामात्रमात्मा मुक्तः सनातनः ।
इति विज्ञाय धीरो हि किमभ्यस्यति बालवत् ॥७॥

अन्वयः–(इदं) समस्तं (जगत्) कल्पनामात्रम् आत्मा सनातनः मुक्तः धीरः इति विज्ञाय हि बालवत् किम् अभ्यस्यति ॥ ७ ॥

यह सम्पूर्ण जगत् कल्पनामात्र है और आत्मा नित्यमुक्त है, ज्ञानी पुरुष इस प्रकार जानकर क्या बालकके समान सांसारिक व्यवहार करता है ? अर्थात् कदापि नहीं करता है ॥ ७ ॥

आत्मा ब्रह्मेति निश्चित्य भावाभावौ च कल्पितौ । निष्कामः किं विजानाति किं ब्रूते च करोति किम् ॥ ८ ॥

अन्वयः—आत्मा ब्रह्म भावाभावौ च कल्पितौ इति निश्चित्य निष्कामः (सन्) किं विजानाति, किं ब्रूते, किं च करोति ॥ ८ ॥

अब "संपूर्ण कल्पनामात्र है" इस ज्ञानका मूल कारण जो तत्त्वपदार्थका ऐक्यज्ञान है उसको कहते हैं:—आत्मा अर्थात् जीवात्मा जो 'त्वम्' पदार्थ है और ब्रह्म 'तत्' पदार्थ है, ये दोनों अभिन्न हैं और अधिष्ठानरूप ब्रह्मका साक्षात्कार होनेपर भाव, अभावरूप संपूर्ण घटादि दृश्य पदार्थ कल्पित हैं, ऐसा निश्चय करके निष्काम होता हुआ ज्ञानी क्या जानता है? क्या कहता है? और क्या करता है? अर्थात् मनके ब्रह्माकार होनेके कारण न कुछ जानता है, न कुछ कहता है और न कुछ करता है, किंतु आत्मस्वरूपमें स्थित होता है ॥ ८ ॥

अयं सोऽहमयं नाहमिति क्षीणा विकल्पनाः।
सर्वमात्मेतिनिश्चित्यतूष्णींभूतस्ययोगिनः ॥९॥

अन्वयः—सर्वम् आत्मा इति निश्चित्य तूष्णींभूतस्य योगिनः अयम् सः अहम् अयम् अहम् न इति विकल्पनाः क्षीणाः (भवन्ति) ॥ ९ ॥

आत्मज्ञानसे संपूर्ण कल्पना निवृत्त हो जाती हैं यह दिखाते हैं:—जिस पुरुषको सम्पूर्ण जगत् ब्रह्मरूप भासता है वह पुरुष मुनिव्रतरूपी योगदशाको प्राप्त होता है, क्योंकि उस पुरुषका मन वृत्तिरहित होकर ब्रह्मके विषे एकाकार हो जाता है तदनंतर उस पुरुषको अपना तथा परका ज्ञान नहीं रहता है, अर्थात् मैं ध्यान

करता हूँ और दूसरा पुरुष अन्य कार्य करता है, यह अज्ञान दूर हो जाता है, तात्पर्य यह है कि, उस पुरुषकी कल्पनामात्र नष्ट हो जाती है ॥ ९ ॥

न विक्षेपो न चैकाग्र्यं नातिबोधो न मूढता ।
नसुखंन च वा दुःखमुपशान्तस्य योगिनः ॥१०॥

अन्वयः--उपशान्तस्य योगिनः विक्षेपः न, ऐकाग्र्यम् न च अतिबोधः न, मूढता न, सुखम् न वा, दुःखम् च न (भवति) ॥ १० ॥

अब संकल्पविकल्परहित पुरुषका स्वरूप दिखाते हैंः—जो पुरुष संकल्पविकल्परहित होकर शांतिको प्राप्त होता है; उस शांतस्वभाव योगीके मनको किसी बातका विक्षेप नहीं होता है एकाग्रता नहीं होती अत्यन्त ज्ञान अथवा मूढता नहीं होती है, सुख नहीं होता है, दुःख भी नहीं होता है क्योंकि,वह केवल ब्रह्मानन्दस्वरूप होता है॥ १०॥

स्वाराज्ये भैक्ष्यवृत्तौ च लाभालाभे जने वने ।
निर्विकल्पस्वभावस्य न विशेषोऽस्ति योगिनः ॥

अन्वयः—निर्विकल्पस्वभावस्य योगिनः स्वाराज्ये भैक्ष्यवृत्तौ लाभालाभे जने वने विशेषः न अस्ति ॥ ११ ॥

संकल्प और विकल्पसे रहित है स्वभाव जिसका ऐसे योगी (ज्ञानी) को स्वर्गका राज्य मिलनेसे, प्रारब्धकर्मानुसार प्राप्त हुई वस्तुसे तथा जनसमूहसे निवास होनेसे कुछ प्रसन्नता नहीं होती है

और भिक्षा मांगकर निर्वाह करनेसे किसी पदार्थकी प्राप्ति न होनेसे तथा निर्जन स्थानमें रहनेसे कुछ अप्रसन्नता नहीं होती है क्योंकि, उसका मन तो ब्रह्माकार होता है ॥ ११ ॥

क्व धर्मः क्व च वा कामः क्व चार्थः क्व विवेकिता ।
इदं कृतमिदं नेति द्वन्द्वैर्मुक्तस्य योगिनः ॥ १२॥

अन्वयः—इदम् कृतम्, इदं न (कृतम्), इति द्वन्द्वैः मुक्तस्य योगिनः धर्मः क्व, क्व कामः अर्थः क्व, वा विवेकिता च क्व ॥ १२ ॥

यह किया, यह नहीं किया इत्यादि द्वंद्वोंसे रहित योगीका धर्म कहां, अर्थ कहां और मोक्षका उपाय रूप ज्ञान कहां ? क्योंकि जब धर्मादिका कारण अविद्या और संकल्पादि ही नहीं होते तो धर्मादि किस प्रकार हो सकते हैं ? ॥ १२ ॥

कृत्यं किमपि नैवास्ति न कापि हृदि रंजना ।
यथाजीवनमेवेह जीवन्मुक्तस्य योगिनः ॥ १३॥

अन्वयः—जीवन्मुक्तस्य योगिनः इह किम् अपि कृत्यम् न एव अस्ति, (तथा) हृदि का अपि रञ्जना न (अस्ति किन्तु) यथा जीवनम् एव (भवति) ॥१३॥

जीवन्मुक्त योगीको इस संसारमें कुछ भी करनेको नहीं होता है और हृदयके विषे कोई अनुराग ही नहीं होता है. तथापि जीवन्मुक्त पुरुष जीवनके हेतु अदृष्टके अनुसार कर्म करता है ॥१३॥

क्क मोहः क्क च वा विश्वं क्क तद्ध्यानं क्क मुक्तता ।
सर्वसंकल्पसीमायां विश्रान्तस्य महात्मनः ॥ १४

अन्वयः—सर्वसंकल्पसीमायाम् विश्रान्तस्य महात्मनः मोहः क्क, विश्वम् क्क, तद्ध्यानं क्क, वा मुक्तता च क्क ॥ १४ ॥

सम्पूर्ण संकल्पोंकी सीमा कहिये अवधि जो आत्मज्ञान तिसके विषे विश्रामको प्राप्त होनेवाले योगीको मोह कहां ? और विश्व कहां ? और विश्वका चिन्तन कहां ? तथा मुक्तपना कहां ? क्योंकि वह तो ब्रह्मस्वरूप होजाता है ॥ १४ ॥

येन विश्वमिदं दृष्टं स नास्तीति करोतु वै ।
निर्वासनः किं कुरुते पश्यन्नपि न पश्यति ॥ १५ ॥

अन्वयः—येन विश्वम् दृष्टम् सः वै न अस्ति, इति करोतु (यः) पश्यन् अपि न पश्यति (सः) निर्वासनः (सन्) किम् कुरुते ॥ १५ ॥

जिसने यह घटादि विश्व देखा है, वह कदाचित् घटादि विश्व नहीं है ऐसा जाने, परन्तु जो देखता हुआ भी नहीं देखता है वह वासनारहित होकर क्या करे ? अर्थात् कुछ नहीं अर्थात् जिसको वासनाओंका संस्कार ही नहीं वह त्याग ही क्या करे ? ॥ १५ ॥

येन दृष्टं परं ब्रह्म सोऽहं ब्रह्मेति चिन्तयेत् ।
किं चिंतयति निश्चिन्तो द्वितीयं यो न पश्यति १६

अन्वयः—येन परम् ब्रह्म दृष्टम् सः अहं ब्रह्म इति चिन्तयेत्, यः (तु) द्वितीयम् न पश्यति (सः) निश्चिन्तः (सन्) किम् चिन्तयति ॥ १६ ॥

जो पुरुष परब्रह्मको देखे वह 'मैं ब्रह्म हूं' ऐसा चिन्तन करे और जो द्वितीयको देखता ही नहीं है, वह निश्चिन्त होकर क्या चिन्तन करेगा ? अर्थात् कुछ भी चिन्तन नहीं करेगा, अर्थात् जिसकी द्वैतदृष्टि नहीं है उसे ब्रह्मचिंतन करनेको भी कोई आवश्यकता नहीं है ॥ १६ ॥

दृष्टो येनात्मविक्षेपो निरोधं कुरुते त्वसौ ।
उदारस्तुनविक्षिप्तःसाध्याभावात्करोतिकिम् १७

अन्वयः—येन आत्मविक्षेपः दृष्टः असौ तु निरोधम् कुरुते, उदारः तु विक्षिप्तः न भवति, (सः) साध्याभावात् किम् करोति ? ॥ १७ ॥

अन्तःकरणका विक्षेप जिस पुरुषके देखनेमें आता हो वह मनको वशमें करनेका उपाय करे और सर्वत्र एक जो ब्रह्मको ही देखता है, उसके तो विक्षेप है ही नहीं उसको कुछ साधने योग्य नहीं होता है इस कारण वह कुछ साधन भी नहीं करता है १७॥

धीरो लोकविपर्यस्तो वर्त्तमानोऽपि लोकवत् ।
न समाधिं न विक्षेपं न लेपं स्वस्य पश्यति ॥१८॥

अन्वयः—लोकविपर्यस्तः धीरः लोकवत् वर्त्तमानः अपि स्वस्य समाधिम् न, विक्षेपम् न (तथा) लेपम् (च) न पश्यति ॥ १८ ॥

संसारके विक्षेपोंसे रहित धीर पुरुषके समान वर्ताव करता हुआ भी अपने विषे समाधिको नहीं मानता है, विक्षेप नहीं मानता है, तथा किसी कार्यमें आसक्ति भी नहीं मानता है ॥ १८ ॥

भावाभावविहीनो यस्तृप्तो निर्वासनो बुधः।
नैव किंचित्कृतं तेन लोकदृष्ट्या विकुर्वता ॥१९॥

अन्वयः—यः बुधः तृप्तः भावाभावविहीनः (तथा) निर्वासनः (भवति) लोकदृष्ट्या विकुर्वता (अपि) तेन किञ्चित् न एव कृतम् ॥ १९ ॥

जो ज्ञानी है वह अपने आनन्दसे परिपूर्ण रहता है इस कारण किसीकी स्तुति निन्दा नहीं करता है, लोक तो यह देखते हैं कि, ज्ञानी अनेक प्रकारकी क्रिया करता है, परंतु ज्ञानी आसक्तिपूर्वक कोई भी क्रिया नहीं करता है, क्योंकि ज्ञानीको अभिमान नहीं होता है ॥ १९ ॥

प्रवृत्तौ वा निवृत्तौ वा नैव धीरस्य दुर्ग्रहः।
यदा यत्कर्तुमायाति तत्कृत्वा तिष्ठतः सुखम्२०

अन्वयः-यदा यत् कर्तुम् आयाति तत् सुखम् कृत्वा तिष्ठतः धीरस्य प्रवृत्तौ वा निवृत्तौ दुर्ग्रहः न एव (भवति) ॥ २० ॥

प्रारब्धके अनुसार जो प्रवृत्ति अथवा निवृत्तिरूप कर्म जब करनेमें आवे उसको अनायासहीमें करके स्थित होनेवाले धीर पुरुषको प्रवृत्तिके विषे अथवा निवृत्तिके विषे दुराग्रह नहीं होता है ॥ २० ॥

निर्वासनो निरालम्बः स्वच्छन्दो मुक्तबन्धनः।
क्षिप्तः संस्कारवातेन चेष्टते शुष्कपर्णवत् ॥२१॥

अन्वयः—निर्वासनः निरालम्बः स्वच्छंदः मुक्तबन्धनः (ज्ञानी) संस्कारवातेन क्षिप्तः (सन्) शुष्कपर्णवत् चेष्टते ॥ २१ ॥

यहां वादी शंका करता है कि, तुम तो ज्ञानीको वासनारहित कह रहे हो फिर वह प्रवृत्ति अथवा निवृत्तिरूप कर्म किस प्रकारसे करता है? तहां कहते हैं कि, ज्ञानी वासनारहित है ज्ञानीको किसीका आधार नहीं लेना पड़ता है, इस कारण ही स्वाधीन होता है, तथा ज्ञानीको राग द्वेष नहीं है परंतु प्रारब्धके अनुसार प्राप्त होते हैं, उनको करता है जिस प्रकार पृथ्वीके ऊपर पड़े हुए सूखे पत्तोंमें कहीं जानेकी अथवा स्थित होनेकी वासना (सामर्थ्य) नहीं होती है परंतु जिस दिशाका वायु आता है उसी दिशाको पत्ते उड़ने लगते हैं, इसी प्रकार ज्ञानी प्रारब्धके अनुसार भोगचेष्टा करता है ॥ २१ ॥

असंसारस्य तु क्वापि न हर्षो न विषादिता ।
स शीतलमना नित्यं विदेह इव राजते ॥ २२ ॥

अन्वयः—असंसारस्य तु क्व अपि हर्षः न (भवति), विषादिता (च) न (भवति) नित्यम् शीतलमनाः सः विदेहः इव राजते ॥ २२ ॥

जिसके संसारके हेतु संकल्प विकल्प दूर हो जाते हैं, उस असंसारी पुरुषको न हर्ष होता है, न विषाद होता है अर्थात् उसके चित्तमें हर्ष आदि छः ऊर्मि नहीं उत्पन्न होती हैं, वह नित्य शीतल मनवाला मुक्तकी समान विराजमान होता है ॥ २२ ॥

कुत्रापि न जिहासास्ति नाशो वापि न कुत्रचित् ॥
आत्मारामस्य धीरस्य शीतलाच्छतरात्मनः २३

अन्वयः—शीतलाच्छतरात्मनः आत्मारामस्य धीरस्य कुत्र अपि जिहासा न (अस्ति) वा कुत्रचित् अपि नाशः न (अस्ति) ॥ २३ ॥

जो पुरुष आत्माके विषे रमण करता है वह धीरवान् होता है और उस पुरुषका अंतःकरण परम पवित्र और शीतल होता है, उसको किसी वस्तुके त्यागनेकी इच्छा नहीं होती है और किसी वस्तुके ग्रहण करनेकी भी इच्छा नहीं होती है क्योंकि, उस ज्ञानीके राग द्वेषका लेशमात्र भी संबंध नहीं होता है और उस ज्ञानीको कहीं अनर्थ भी नहीं होता, क्योंकि, अनर्थका हेतु जो अज्ञान सो उसके विषे नहीं होता है ॥ २३ ॥

प्रकृत्या शून्यचित्तस्य कुर्वतोऽस्य यदृच्छया ।
प्राकृतस्येव धीरस्य न मानो नावमानिता २४॥

अन्वयः—प्रकृत्या शून्यचित्तस्य प्राकृतस्य इव यदृच्छया कुर्वतः अस्य मानः न (वा) अवमानिता न ॥ २४ ॥

स्वभावसेही जिसका चित्त संकल्प विकल्परूप विकारसे रहित है और जो प्रारब्धानुसार प्रवृत्त निवृत्त कर्मोंको अज्ञानीके समान करता है, ऐसे धीर कहिये ज्ञानीको मान और अपमानका अनुसन्धान नहीं होता है ॥ २४ ॥

कृतं देहेन कर्मेदं न मया शुद्धरूपिणा ।
इति चिन्तानुरोधी यः कुर्वन्नपि करोति न ॥२५॥

अन्वयः-इदम् कर्म देहेन कृतम् शुद्धरूपिणा मया न (कृतम्) यः इति चिन्तानुरोधी (सः) कुर्वन् अपि न करोति ॥ २५ ॥

संपूर्ण कर्म क्रिया देह करता है, मैं नहीं करता हूँ क्योंकि, मैं तो शुद्धरूप साक्षी हूँ इस प्रकार जो विचारता है वह पुरुष कर्म करता हुआ भी बन्धनको नहीं प्राप्त होता है क्योंकि, उसको कर्म करनेका अभिमान नहीं होता है ॥ २५ ॥

अतद्वादीव कुरुते न भवेदपि बालिशः ।
जीवन्मुक्तः सुखी श्रीमान् संसरन्नपि शोभते।२६

अन्वयः-जीवन्मुक्तः अतद्वादी इव कुरुते, (तथा) अपि बालिशः न भवेत् (अत एव) संसरन् अपि सुखी श्रीमान् शोभते ॥ २६ ॥

किये हुए कार्यको " मैं करता हूँ " ऐसे नहीं कहता हुआ जीवन्मुक्त पुरुष कार्यको करता हुआ भी मूर्ख नहीं होता है, क्योंकि, अन्तःकरणके विषे ज्ञानवान् होता है । इस कारणही संसारके व्यवहारको करता हुआ भी भीतर सुखी और शोभायमान होता है ॥ २६ ॥

नानाविचारसुश्रान्तो धीरो विश्रान्तिमागतः ।
न कल्पते न जानाति न शृणोति न पश्यति॥२७॥

अन्वयः-नानाविचारसुश्रान्तः विश्रान्तिम् आगतः धीरः न कल्पते न जानाति न शृणोति न पश्यति ॥ २७ ॥

नाना प्रकारके संकल्पविकल्परूप विचारोंसे रहित होकर आत्माके विषे विश्रामको प्राप्त हुआ धीर कहिये ज्ञानी पुरुष संकल्पविकल्परूप मनके व्यापारको नहीं करता है और न जानता है तथा बुद्धिके व्यापारको नहीं करता है, शब्दको नहीं सुनता है, रूपको नहीं देखता है अर्थात् इन्द्रियमात्रके व्यापारको नहीं करता है क्योंकि उसे कर्तृत्वका अभिमान कदापि नहीं होता है ॥ २७ ॥

असमाधेरविक्षेपान्न मुमुक्षुर्न चेतरः ।
निश्चित्य कल्पितं पश्यन्ब्रह्मैवास्ते महाशयः२८

अन्वयः-(ज्ञानी) असमाधेः मुमुक्षुः न अविक्षेपात् इतरः च न (सर्वम्) कल्पितम् (इति) निश्चित्य पश्यन् (अपि) महाशयः ब्रह्म एव अस्ति॥२८

ज्ञानी मुमुक्षु नहीं होता है क्योंकि समाधि नहीं करता है और बद्धभी नहीं होता है, क्योंकि ज्ञानीके विषे विक्षेप कहिये द्वैत भ्रम नहीं होता है, किंतु यह सम्पूर्ण दृश्यमान जगत् कल्पित है ऐसा निश्चय करके तदनन्तर बाधित प्रपञ्चकी प्रतीतिसे देखता हुआ भी निर्विकारचित्त होता है इस कारण साक्षात् ब्रह्मस्वरूप होकर स्थित होता है ॥ २८ ॥

यस्यान्तःस्यादहंकारो न करोति करोति सः ।
निरहंकारधीरेणनकिञ्चिद्धि कृतं कृतम् ॥ २९ ॥

अन्वयः—यस्य अन्तः अहंकारः स्यात् सः न करोति (अपि) करोति निरहंकारधीरेण हि कृतम् (अपि) किञ्चित् न कृतम् ॥ २९ ॥

तहां वादी शंका करता है कि, संसारको देखता हुआ भी ब्रह्मरूप किस प्रकार हो सकता है? तिसका समाधान करते हैं कि–जिसके अन्तःकरणके विषे अहंकारका अध्यास होता है, वह पुरुष लोकदृष्टिसे न करता हुआ भी संकल्पविकल्प करता है, क्योंकि उसको कर्तृत्वका अध्यास होता है और अहंकाररहित जो धीर कहिये ज्ञानी पुरुष है वह लोकदृष्टिसे कार्य करता हुआ भी अपनी दृष्टिसे नहीं करता है क्योंकि उसको कर्तृत्वका अभिमान नहीं होता है ॥ २९ ॥

नोद्विग्नं न च सन्तुष्टं कर्तृत्वमदवर्जितम् ।
निराशं गतसन्देहं चित्तं मुक्तस्य राजते ॥ ३० ॥

अन्वयः—मुक्तस्य चित्तम् उद्विग्नम् न (भवति) सन्तुष्टम् च न (भवति) कर्तृत्वमदवर्जितम् निराशम् गतसंदेहम् राजते ॥ ३० ॥

जो जीवन्मुक्त पुरुष है उसके चित्तमें कभी उद्वेग (घबडाहट) नहीं होती है, किसी प्रकार सन्तोष भी नहीं होता है, क्योंकि कर्तापनेके अभिमानका उसके विषे लेशभी नहीं होता है; तिसी प्रकार उसको आशा तथा सन्देह भी नहीं होता है, क्योंकि वह तो सदा जीवन्मुक्त ही है ॥ ३० ॥

निर्ध्यातुं चेष्टितुं वापि यच्चित्तं न प्रवर्त्तते ।
निर्निमित्तमिदं किंतु निर्ध्यायति विचेष्टते ॥ ३१ ॥

अन्वयः—यच्चित्तम् निध्यातुम् अपि वा चेष्टितुम् न प्रवर्तते किन्तु इदम् निर्निमित्तम् निध्यायति विचेष्टते ॥ ३१ ॥

जिस ज्ञानीका चित्त क्रियारहित होकर स्थित होनेको अथवा संकल्प विकल्पादिरूप चेष्टा करनेको प्रवृत्त नहीं होता है, परन्तु ज्ञानीका चित्त निमित्त कहिये संकल्पविकल्परहित होकर आत्म-स्वरूपके विषे निश्चल स्थित होता है तथा अनेक प्रकारकी संक-ल्परूप चेष्टा भी करता है ॥ ३१ ॥

तत्त्वं यथार्थमाकर्ण्य मन्दः प्राप्नोति मूढताम् ।
अथवा याति संकोचममूढः कोऽपि मूढवत् ॥ ३२ ॥

अन्वयः—मंदः यथार्थम् तत्त्वम् आकर्ण्य मूढताम् प्राप्नोति अथवा संकोचम् आयाति । कः अपि अमूढः (अपि) मूढवत् (भवति) ॥ ३२ ॥

कोई अज्ञानी श्रुतिसे यथार्थ तत्त्व (तत् और 'त्वम्' पदार्थके कल्पित भेद) को श्रवण करके असंभावना और विपरीत भावना-ओंके द्वारा अर्थात् संशय और विपर्यय करके मूढताको प्राप्त होता है, या 'तत्—त्वम्' पदार्थके भेदको जाननेके निमित्त संकोचन कहिये चित्तकी समाधि लगाता है किन्तु वह कोई ज्ञानी ही है जो कि, मूढके समान बाहरके व्यवहारोंको करता हुआ भी समा-धिस्थ रहता है ॥ ३२ ॥

एकाग्रता निरोधो वा मूढैरभ्यस्यते भृशम् ।
धीराः कृत्यं न पश्यन्ति सुप्तवत्स्वपदे स्थिताः ॥ ३३ ॥

अन्वयः—मूढैः एकाग्रता वा निरोधः भृशम् अभ्यस्यते स्वपदे स्थिताः धीराः सुप्तवत् कृत्यम् न पश्यन्ति ॥ ३३ ॥

जो देहाभिमानी मूर्ख हैं वे मनको वशमें करनेके अर्थ अनेक प्रकारका अभ्यास करते हैं परन्तु उनका मन वशमें नहीं होता है और जो आत्मज्ञानी धैर्यवान् पुरुष है वह आत्मस्वरूपके विषे स्थितिको प्राप्त होता है उनका मन तो स्वभावसे ही वशीभूत होता है जिस प्रकार निद्राके समयमें मनकी चेष्टा बन्द हो जाती है, तिसी प्रकार ज्ञान होनेपर मनकी चेष्टा बन्द हो जाती है, क्योंकि अद्वैतात्मस्वरूपके ज्ञानसे भ्रममात्रकी निवृत्ति हो जाती है ॥ ३३॥

अप्रयत्नात्प्रयत्नाद्वा मूढो नाप्नोति निर्वृतिम् ।
तत्त्वनिश्चयमात्रेण प्राज्ञो भवति निर्वृतः ॥ ३४॥

अन्वयः—मूढः अप्रयत्नात् वा प्रयत्नात् (आपि) निर्वृतिं न आप्नोति प्राज्ञः तत्त्वनिश्चयमात्रेण निर्वृतः भवति ॥ ३४ ॥

जो मूढ पुरुष है और जिसको आत्मज्ञान नहीं हुआ है वह अनेक प्रकारका अभ्यास करके मनको वशमें करे अथवा न करे तो भी उसको निवृत्तिका सुख नहीं प्राप्त होता है और आत्मज्ञानी है उसने तो ज्योंही आत्मस्वरूपका निश्चय किया कि, वह परमनिवृत्तिके सुखको प्राप्त होता है ॥ ३४ ॥

शुद्धं बुद्धं प्रियं पूर्णं निष्प्रपञ्चं निरामयम् ।
आत्मानं तं न जानन्ति तत्राभ्यासपराजनाः॥३५

अन्वयः—तत्र अभ्यासपराः जनाः शुद्धम् बुद्धम् प्रियम् पूर्णम् निष्प्रपञ्चम् निरामयम् तम् आत्मानम् न जानन्ति ॥ ३५ ॥

सद्गुरु और वेदांतवाक्योंकी शरण लिये विना देहाभिमान दूर नहीं होता है तिस देहाभिमानसे मन जगत्के विषे आसक्त होता है, तिस कारण वह पुरुष आत्मस्वरूपको नहीं जानता है, क्योंकि आत्मस्वरूप तो शुद्ध है, चैतन्यस्वरूप है और आनंदरूप, परिपूर्ण, संसारकी उपाधिसे रहित तथा त्रिविधतापरहित है, इस कारण देहाभिमानी पुरुषको उसका ज्ञान नहीं होता है ॥ ३५ ॥

नाप्नोति कर्मणा मोक्षं विमूढोऽभ्यासरूपिणा ।
धन्योविज्ञानमात्रेणमुक्तास्तिष्ठत्यविक्रियः ॥३६॥

अन्वयः—विमूढः अभ्यासरूपिणा कर्मणा मोक्षम् न आप्नोति धन्यः विज्ञानमात्रेण आविक्रियः मुक्तः तिष्ठति ॥ ३६ ॥

जो पुरुष देहाभिमानी है वह योगाभ्यासरूप कर्म करके मोक्षको नहीं प्राप्त होता है क्योंकि कर्ममात्रसे मोक्षप्राप्ति होनी दुर्लभ है. सोई श्रुतिमें भी कहा है कि—"न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः" योगाभ्यास आदि कर्मसे मोक्ष नहीं होता है, धन प्राप्त करनेसे मोक्ष नहीं होता है, संतान उत्पन्न करनेसे मोक्ष नहीं होता है, यदि किन्हीं ज्ञानियोंको मोक्षकी प्राप्ति हुई है तो देहाभिमानके त्यागसे ही हुई है, इस कारण कोई भाग्य-

वान् विरला पुरुषही आत्मज्ञानकी प्राप्तिमात्रसे त्याग दिये हैं सम्पूर्ण संकल्पाविकल्पादि जिसने ऐसा होकर मुक्त हो जाताहै ३६

मूढो नाप्नोति तद्ब्रह्म यतो भवितुमिच्छति ।
अनिच्छन्नपि धीरोहि परब्रह्मस्वरूपभाक् ३७॥

अन्वयः—यतः मूढः ब्रह्म भवितुम् इच्छाति न (अतः) तत् न आप्नोति हि धीरः अनिच्छन् अपि परब्रह्मस्वरूपभाक् भवति ॥ ३७ ॥

मूढपुरुष योगाभ्यासरूप कर्मकरके ब्रह्मरूप होनेकी इच्छा नहीं करता है इस कारण ब्रह्मको नहीं प्राप्त होता है पर आत्मज्ञाता मोक्षकी इच्छा नहीं करता हुआ भी परब्रह्मके स्वरूपको प्राप्त होता है क्योंकि उसका देहाभिमान दूर हो गया है ॥ ३७॥

निराधाराग्रहव्यग्रा मूढाः संसारपोषकाः ।
एतस्यानर्थमूलस्य मूलच्छेदः कृतो बुधैः ३८॥

अन्वयः—मूढाः निराधाराग्रहव्यग्राः संसारपोषकाः (भवन्ति) बुधैः अनर्थमूलस्य एतस्य मूलच्छेदः कृतः ॥ ३८ ॥

मूढ जो अज्ञानी पुरुष हैं वे सद्गुरु और वेदान्तवाक्योंके आधारके विना ही केवल योगाभ्यासरूप कर्म करके ही मैं मुक्त हो जाऊँगा इस प्रकार निरर्थक दुराग्रह करनेवाले और संसारको पुष्ट करनेवाले होते हैं, संसारको दूर करनेवाला जो ज्ञान उसका उनके विषे लेश भी नहीं हैं और ज्ञानी पुरुष जो हैं उन्होंने जन्म-

मरणरूप अनर्थके मूलकारण इस संसारको ज्ञानके द्वारा मूलसे ही छेदन कर दिया है ॥ ३८ ॥

न शान्तिं लभते मूढो यतः शमितुमिच्छति ।
धीरस्तत्त्वं विनिश्चित्य सर्वदा शांतमानसः ॥३९॥

अन्वयः—यतः मूढः शमितुम् इच्छति (अतः) शांतिम् न लभते धीरः तत्त्वम् विनिश्चित्य सर्वदा शांतमानसः (भवति) ॥ ३९ ॥

जो मूढ कहिये देहाभिमानी पुरुष है वह योगाभ्यासके द्वारा शांतिकी इच्छा करता है, परंतु योगाभ्यासजन्य शांतिको प्राप्त नहीं होता है और ज्ञानी पुरुष आत्मतत्त्वका निश्चय करके सदा शांतमन रहता है ॥ ३९ ॥

क्वात्मनो दर्शनं तस्य यद्दृष्टमवलम्बते ।
धीरास्ते तं न पश्यन्ति पश्यन्त्यात्मानमव्ययम् ॥

अन्वयः—यत् दृष्टम् अवलम्बते तस्य आत्मनः दर्शनम् क, ते धीराः तम् न पश्यन्ति (किन्तु) तम् अव्ययम् आत्मानम् पश्यन्ति ॥ ४० ॥

जो अज्ञानी पुरुष दृष्ट पदार्थोंको सत्य मानता है उसको आत्मदर्शन किस प्रकार हो सकता है? परंतु धैर्यवान् पुरुष तिन दृष्ट पदार्थोंको सत्य नहीं मानता है किन्तु एक अविनाशी आत्माको देखता है ॥ ४० ॥

क्क निरोधो विमूढोऽस्य यो निर्बन्धं करोति वै।
स्वारामस्यैव धीरस्य सर्वदाऽसावकृत्रिमः॥४१॥

अन्वयः--यः वै निर्बन्धम् करोति, (तस्य) विमूढस्य निरोधः क्क, स्वारामस्य धीरस्य एव असौ सर्वदा अकृत्रिमः (भवति) ॥ ४१ ॥

जो मूढ देहाभिमानी पुरुष शुष्क चित्तनिरोधके विषे दुराग्रह करता है तिस मूढके चित्तका निरोध किसी प्रकार हो सकता है? अर्थात् उसके चित्तका निरोध कदापि नहीं हो सकता है, क्योंकि समाधिके अनन्तर अज्ञानीका चित्त फिर संकल्पविकल्पयुक्त हो जाता है और आत्माराम धीर पुरुषके चित्तका निरोध स्वाभाविकही होता है; क्योंकि उसका चित्त संकल्पादिरहित निश्चल और ब्रह्माकार होता है ॥ ४१ ॥

भावस्य भावकः कश्चिन्न किञ्चिद्भावकोऽपरः।
उभयाभावकः कश्चिदेवमेव निराकुलः॥ ४२॥

अन्वयः--कश्चित् भावस्य भावकः अपरः न किञ्चित् भावकः एवम् कश्चित् उभयाभावकः एव निराकुलः अस्ति ॥ ४२ ॥

कोई नैयायिक आदि ऐसा मानते हैं कि, यह जगत् वास्तवमें सत्य है और कोई शून्यवादी ऐसा मानते हैं कि, कुछ भी नहीं है और हजारोंमें एक आदमी आत्माका अनुभव करनेवाला अभाव और भाव दोनोंको न मानकर स्वस्थ चित्तवाला रहताहै ॥४२॥

शुद्धमद्वयमात्मानं भावयन्ति कुबुद्धयः ।
न तु जानन्ति संमोहाद्यावज्जीवमनिर्वृताः ॥ ४३ ॥

अन्वयः—कुबुद्धयः शुद्धम् अद्वयम् आत्मानम् भावयन्ति, जानन्ति तु न, संमोहात् यावज्जीवम् अनिर्वृताः (भवंति) ॥ ४३ ॥

मूढबुद्धि अर्थात् देहाभिमानी पुरुष आत्माको चिन्तन करते हैं, परन्तु जानते नहीं क्योंकि मोहसे युक्त होते हैं. इस कारणही जन्मभर उनकी संकल्पविकल्पोंसे निवृत्ति नहीं होनेसे सन्तोषको भी नहीं प्राप्त होते हैं ॥ ४३ ॥

मुमुक्षोर्बुद्धिरालम्बमन्तरेण न विद्यते ।
निरालम्बैव निष्कामा बुद्धिर्मुक्तस्य सर्वदा ॥ ४४ ॥

अन्वयः—मुमुक्षोः बुद्धिः आलम्बम् अन्तरेण न विद्यते, मुक्तस्य बुद्धिः सर्वदा निरालम्बा निष्कामा एव ॥ ४४ ॥

जिसको आत्माका साक्षात्कार नहीं हुआ है ऐसे मुमुक्षुपुरुषकी बुद्धि सधर्मकवस्तुरूप आश्रयके विना नहीं होती है और जीवन्मुक्त पुरुषकी बुद्धि मुक्तिविषयमें भी इच्छारहित और सदा निरालम्ब (निर्विशेष आत्मरूप) होती है ॥ ४४ ॥

विषयद्वीपिनो वीक्ष्य चकिताः शरणार्थिनः ।
विशन्ति झटिति क्रोडं निरोधैकाग्रसिद्धये ॥ ४५ ॥

अन्वयः—विषयद्वीपिनः वीक्ष्य चकिताः शरणार्थिनः (मूढाः) निरोधैकाग्रसिद्धये झटिति क्रोडम् विशन्ति ॥ ४५ ॥

विषयरूप व्याघ्रको देखकर भयभीत हुए, रक्षाकी इच्छा करनेवाले अज्ञानी पुरुषही जल्दीसे चित्तका निरोध और एकाग्रताकी सिद्धिके अर्थ गुहाके भीतर घुसते हैं, ज्ञानी नहीं घुसते हैं ॥४५॥

निर्वासनं हरिं दृष्ट्वा तूष्णीं विषयदन्तिनः ।
पलायन्ते न शक्तास्ते सेवन्ते कृतचाटवः ॥४६॥

अन्वयः—विषयदन्तिनः निर्वासनम् हरिम् दृष्ट्वा न शक्ताः (सन्तः) तूष्णीम् पलायन्ते ते कृतचाटवः सेवन्ते ॥ ४६ ॥

वासनारहित पुरुषरूप सिंहको देखकर विषयरूपी हस्ती असमर्थ होकर चुपचाप भाग जाते हैं और तिस वासनारहित पुरुषको आकर्षित होकर स्वयं सेवन करते हैं ॥ ४६ ॥

न मुक्तिकारिकां धत्ते निःशंको युक्तमानसः ।
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्नास्ते यथासुखम् ४७

अन्वयः—निःशङ्कः युक्तमानसः (ज्ञानी) मुक्तिकारिकां न धत्ते (किन्तु) पश्यन् शृण्वन् स्पृशन् जिघ्रन् अश्नन् यथासुखम् आस्ते ॥ ४७ ॥

निःशंक और निश्चल मनवाला ज्ञानी यम नियम आदि योगक्रियाको आग्रहसे नहीं करता है किन्तु देखता हुआ, सुनता हुआ, स्पर्श करता हुआ, सूंघता हुआ, भोजन करता हुआ भी आत्मसुख विषे ही निमग्न रहता है ॥ ४७ ॥

वस्तुश्रवणमात्रेण शुद्धबुद्धिर्निराकुलः ।
नैवाचारमनाचारमौदास्यं वा न पश्यति ॥४८॥

अन्वयः—वस्तुश्रवणमात्रेण शुद्धबुद्धिः निराकुलः (ज्ञानी) आचारम् अनाचारम् वा औदास्यम् न एव पश्यति ॥ ४८ ॥

गुरु और वेदान्तवाक्यों द्वारा चैतन्यस्वरूप आत्माके श्रवण-मात्रसे हुआ है परिपूर्ण आत्माका साक्षात्कार जिसको और निराकुल अर्थात् अपने स्वरूपके विषे स्थित ज्ञानी आचारको वा अनाचारको अथवा उदासीनता इनकी ओर दृष्टि नहीं देता है क्योंकि, वह ब्रह्माकार होता है ॥ ४८ ॥

यदा यत्कर्तुमायाति तदा तत्कुरुते ऋजुः ।
शुभं वाप्यशुभं वापि तस्य चेष्टा हि बालवत् ॥४९॥

अन्वयः—यदा यत् वा अपि शुभम् अपि वा अशुभम् कर्तुम् आयाति तदा तत् ऋजुः (सन्) कुरुते (यतः) हि तस्य चेष्टा बालवत् (भवति)॥

अब जो शुभ अथवा अशुभ कर्म प्रारब्धानुसार करना पडता है, उसको आग्रहरहित होकर करता है क्योंकि, तिस जीवन्मुक्त ज्ञानीकी चेष्टा बालकके समान होती है, अर्थात् वह प्रारब्धानु-सार कर्म करता है राग द्वेषसे नहीं करता है ॥ ४९ ॥

स्वातन्त्र्यात्सुखमाप्नोति स्वातन्त्र्याल्लभते परम् । स्वातन्त्र्यान्निर्वृतिं गच्छेत् स्वात-न्त्र्यात्परमं पदम् ॥ ५० ॥

अन्वयः—स्वतान्त्र्यात् सुखम् आप्नोति, स्वातन्त्र्यात् परम् लभते, स्वातन्त्र्यात् निर्वृतिं गच्छेत्, स्वातन्त्र्यात् परमम् पदम् (प्राप्नुयात्) ॥ ५० ॥

रागद्वेषरहित पुरुष सुखको प्राप्त होता है, परमज्ञानको प्राप्त होता है और नित्य सुखको प्राप्त होता तथा आत्मस्वरूपके विषे विश्रामको प्राप्त होता है ॥ ५० ॥

अकर्तृत्वमभोक्तृत्वं स्वात्मनो मन्यते यदा।
तदाक्षीणाभवन्त्येवसमस्ताश्चित्तवृत्तयः ॥ ५१ ॥

अन्वयः—यदा स्वात्मनः अकर्तृत्वम् अभोक्तृत्वम् मन्यते तदा एव (अस्य) समस्ताः चित्तवृत्तयः क्षीणाः भवन्ति ॥ ५१ ॥

जब पुरुष अपने विषे कर्तापनेका और भोक्तापनेका अभिमान त्याग देता है तबही उस पुरुषकी संपूर्ण चित्तकी वृत्तियां क्षीण होजाती हैं ॥ ५१ ॥

उच्छृङ्खलाप्यकृतिका स्थितिर्धीरस्य राजते।
न तु सस्पृहचित्तस्य शांतिर्मूढस्य कृत्रिमा ५२

अन्वयः—धीरस्य उच्छृंखला अपि अकृतिका स्थितिः राजते सस्पृहचित्तस्य मूढस्य कृत्रिमा शांतिः तु न (राजते) ॥ ५२ ॥

जो पुरुष निःस्पृहचित्त होता है उस धैर्यवान् ज्ञानीकी स्वाभाविक शान्तिरहित भी स्थिति शोभायमान होती है और इच्छासे आकुल है चित्त जिसका ऐसे अज्ञानी पुरुषकी बनावटी शान्ति शोभित नहीं होती है ॥ ५२ ॥

विलसन्ति महाभोगैर्विशन्ति गिरिगह्वरान् ।
निरस्तकल्पना धीरा अबद्धा मुक्तबुद्धयः ॥५३॥

अन्वयः—अबद्धाः मुक्तबुद्धयः निरस्तकल्पनाः धीराः महाभोगैः विलसंति गिरिगह्वरान् विशन्ति ॥ ५३ ॥

जिन ज्ञानियोंकी कल्पना निवृत्त हो गई है, जो आसक्तिरहित हैं, तथा जिनकी बुद्धि अभिमानरहित है वे ज्ञानी पुरुष कभी प्रारब्धानुसार प्राप्त हुए भोगोंसे विलास करते हैं और कभी प्रारब्धानुसार पर्वत और वनोंके विषे विचरते हैं ॥ ५३ ॥

श्रोत्रियं देवतां तीर्थमङ्गनां भूपतिं प्रियम् ।
दृष्ट्वा सम्पूज्य धीरस्यनकापिहृदिवासना ॥५४॥

अन्वयः—श्रोत्रियम् देवताम् तीर्थम् सम्पूज्य (तथा) अंगनाम् भूपतिं प्रियम् दृष्ट्वा धीरस्य हृदि का अपि वासना न (जायते) ॥ ५४ ॥

वेदपाठी ब्राह्मण और देवताकी प्रतिमा तथा तीर्थका पूजन करके और सुन्दर स्त्री राजा और प्रिय पुत्रादिको देखकर भी ज्ञानीके हृदयमें कोई वासना नहीं उत्पन्न होती है ॥ ५४ ॥

भृत्यैः पुत्रैः कलत्रैश्च दौहित्रैश्चापि गोत्रजैः ।
विहस्याधिक्कृतोयोगीनयातिविकृतिंमनाक्॥५५

अन्वयः—योगी भृत्यैः पुत्रैः कलत्रैः दौहित्रैः च अपि च गोत्रजैः विहस्य धिक्कृतः (अपि) मनाक् विकृतिम् न याति ॥ ५५ ॥

सेवक स्त्री पुत्र दौहित्र (धेवते) और अन्य गोत्रके पुरुष भी यदि योगीका उपहास करें या धिक्कार देवें तो उसका मन किंचिन्मात्र भी क्षोभको नहीं प्राप्त होता है, क्योंकि उस ज्ञानीका मोह दूर हो जाता है ॥ ५५ ॥

सन्तुष्टोऽपि न सन्तुष्टः खिन्नोऽपि न च खिद्यते।
तस्याश्चर्यदशांतांतांतादृशा एवजानते ॥५६ ॥

अन्वयः–(योगी) संतुष्टः अपि सन्तुष्टः न (भवति) खिन्नः अपि च न खिद्यते, तस्य तां तां (तादृशीम्) आश्चर्यदशाम् तादृशः एव जानते॥५६॥

ज्ञानी लोक दृष्टिसे सन्तोषयुक्त दीखता हुआ भी सन्तोषयुक्त नहीं होता है और लोकदृष्टिसे खिन्न दीखता हुआ भी खिन्न नहीं होता है, ज्ञानीकी इस प्रकारकी दशाको ज्ञानी ही जानते हैं ५६॥

कर्त्तव्यतैव संसारो न तां पश्यन्ति सूरयः ।
शून्याकारा निराकारा निर्विकारा निरामयाः ॥

अन्वयः–संसारः कर्त्तव्यता एव शून्याकाराः निराकाराः निर्विकाराः निरामयाः सूरयः ताम् न पश्यंति ॥ ५७ ॥

कर्तव्यता कहिये मेरा यह कर्तव्य है इस प्रकारका जो जो कार्यका संकल्प है सोई संसार है, परंतु संपूर्ण विश्वके नाश होनेपरभी जो वर्तमान रहते हैं और जो निराकार कहिये घटादिकके आकारसे रहित हैं और जो सर्वत्र आत्मदृष्टि करनेवाले तथा संकल्प

विकल्परूपी रोगसे रहित हैं, वे कदापि कर्तव्यताको नहीं देखते हैं, अर्थात् किसी कार्यके करनेका संकल्प नहीं करते हैं ॥ ५७ ॥

अकुर्वन्नपि संक्षोभाद्व्यग्रः सर्वत्र मूढधीः ।
कुर्वन्नपि तु कृत्यानि कुशलो हि निराकुलः ॥५८॥

अन्वयः—मूढधीः अकुर्वन् अपि सर्वत्र संक्षोभात् व्यग्रः (भवति) हि कुशलः तु कृत्यानि कुर्वन् अपि निराकुलः (भवति) ॥ ५८ ॥

अज्ञानी पुरुष कर्मोंको न करता हुआ भी सर्वत्र संकल्पविकल्प करनेके कारण व्यग्र रहता है और ज्ञानी कार्योंको करता हुआ भी निर्विकारचित्त रहता है, क्योंकि, वह तो आत्मसुखके विषे विराजमान होता है ॥ ५८ ॥

सुखमास्ते सुखं शेते सुखमायाति याति च ।
सुखं वक्ति सुखं भुंक्ते व्यवहारेऽपिशान्तधीः ॥५९॥

अन्वयः—शान्तधीः व्यवहारे अपि सुखम् आस्ते, सुखम् शेते, सुखम् आयाति (सुखम्) च याति, सुखम् वक्ति, सुखम् भुंक्ते ॥ ५९ ॥

प्रारब्धके अनुसार व्यवहारके विषे वर्तमान भी आत्मनिष्ठ बुद्धिवाला ज्ञानी सुखपूर्वक बैठता है, सुखपूर्वक शयन करता है, सुखपूर्वक आता है, सुखपूर्वक जाता है, सुखपूर्वक कहता है तथा सुखपूर्वक ही भोजन करता है अर्थात् संपूर्ण इंद्रियोंके

व्यापारको करता है परंतु आसक्त नहीं होता है क्योंकि उसका चित्त तो ब्रह्माकार होता है ॥ ५९ ॥

स्वभावाद्यस्य नैवार्तिर्लोकवद्व्यवहारिणः ।
महाह्रद इवाक्षोभ्यो गतक्लेशः स शोभते ॥ ६० ॥

अन्वयः-व्यवहारिणः यस्य स्वभावात् लोकवत् आर्तिः नैव भवति (किंतु) स महाह्रदः इव अक्षोभ्यः गतक्लेशः शोभते ॥ ६० ॥

व्यवहार करते हुए भी ज्ञानीको स्वभावसे ही संसारी पुरुषके समान खेद नहीं होता है किन्तु वह ज्ञानी बड़े जलके सरोवरके समान चलायमान नहीं होता है और निर्विकार स्वरूपमें शोभायमान होता है ॥ ६० ॥

निवृत्तिरपि मूढस्य प्रवृत्तिरुपजायते ।
प्रवृत्तिरपि धीरस्य निवृत्तिफलभागिनी ॥ ६१ ॥

अन्वयः-मूढस्य निवृत्तिः अपि प्रवृत्तिः उपजायते, धीरस्य प्रवृत्तिः अपि निवृत्तिफलभागिनी (भवति) ॥ ६१ ॥

मूढकी निवृत्ति कहिये बाह्येंद्रियोंको विषयोंसे निवृत्त करना भी प्रवृत्तिरूप ही होता है, क्योंकि उसके अहंकारादि दूर नहीं होते हैं और ज्ञानीकी सांसारिक व्यवहारमें प्रवृत्ति भी निवृत्तिरूप ही होती है क्योंकि, ज्ञानीको " अहम् करोमि " ऐसा अभिमान नहीं होता है ॥ ६१ ॥

परिग्रहेषु वैराग्यं प्रायो मूढस्य दृश्यते।
देहे विगलिताशस्य क्करागः क्क विरागिता ६२॥

अन्वयः—मूढस्य प्रायः परिग्रहेषु वैराग्यम् दृश्यते; देहे विगलिताशस्य क्क रागः (स्यात्) क्क विरागिता (स्यात्) ॥ ६२ ॥

जो मूर्ख देहाभिमानी पुरुष है वही मोक्षकी इच्छासे धन, धाम, स्त्री, पुत्रादिकोंका त्याग करता है और जिसका देहाभिमान दूर हो गया है ऐसे जीवन्मुक्त ज्ञानी पुरुषका स्त्री पुत्रादिके विषे न राग होता है, न विराग होता है ॥ ६२ ॥

भावनाभावनासक्ता दृष्टिर्मूढस्य सर्वदा।
भाव्यभावनया सा तु स्वस्थस्यादृष्टरूपिणी ६३

अन्वयः—मूढस्य दृष्टिः सर्वदा भावनाभावनासक्ता (भवति) स्वस्थस्य तु सा भाव्यभावनया अदृष्टरूपिणी (भवति) ॥ ६३ ॥

मूर्ख देहाभिमानी पुरुषकी दृष्टि सर्वदा संकल्प और विकल्पके विषे आसक्त होती है और आत्मस्वरूपके विषे स्थित ज्ञानीकी दृष्टि यद्यपि संकल्पविकल्पयुक्तसी दीखती है, परंतु फिर भी संकल्पविकल्पके लेपसे शुद्ध रहती है, क्योंकि ज्ञानीको 'अहं करोमि' ऐसा अभिमान नहीं होता है ॥ ६३ ॥

सर्वारम्भेषु निष्कामो यश्चरेद्बालवन्मुनिः।
नलेपस्तस्यशुद्धस्य क्रियमाणेऽपिकर्मणि ॥६४॥

अन्वयः—यः मुनिः बालवत् सर्वारम्भेषु निष्कामः चरेत् तस्य शुद्धस्य कर्माणि क्रियमाणे अपि लेपः न (भवति) ॥ ६४ ॥

तहां वादी शंका करता है कि, यदि ज्ञानी संकल्प विकल्प करके क्रिया करता है तो उसकी द्वैतबुद्धि क्यों नहीं होती है ? उसका समाधान करते हैं कि, जो ज्ञानी पुरुष बालकके समान निष्काम होकर प्रारब्धानुसार प्राप्त हुए कर्मोंके विषे प्रवृत्त होता है उस निरहंकार ज्ञानीको कर्म करनेपर भी कर्तृत्वदोष नहीं लगता है, क्योंकि उसको तो कर्त्तापनेका अभिमान ही नहीं होता ॥ ६४ ॥

स एव धन्य आत्मज्ञः सर्वभावेषु यः समः ।
पश्यञ्छृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्निस्तर्षमानसः ॥ ६५ ॥

अन्वयः—स एव आत्मज्ञः धन्यः यः सर्वभावेषु समः (भवति अत एव सः) पश्यन् शृण्वन् स्पृशन् जिघ्रन् अश्नन् (अपि) निस्तर्षमानसः (भवति) ॥ ६५ ॥

वही धैर्यवान् ज्ञानी धन्य है, जो संपूर्ण भावोंमें समान बुद्धि रखता है, इस कारण ही वह देखता हुआ, श्रवण करता हुआ, स्पर्श करता हुआ, सूँघता हुआ और भोजन करता हुआ भी सब प्रकारसे तृष्णारहित मनवाला होता है ॥ ६५ ॥

क्व संसारः क्व चाभासः क्व साध्यं क्व च साधनम् ॥
आकाशस्येव धीरस्य निर्विकल्पस्य सर्वदा ॥ ६६ ॥

अन्वयः–आकाशस्य इव सर्वदा निर्विकल्पस्य धीरस्य संसारः क्व आभासः च क्व साध्यम् क्व साधनम् च क्व? ॥ ६६ ॥

जो धैर्यवान् ज्ञानी है, वह सम्पूर्ण संकल्पविकल्प रहित होता है, उसको संसार कहां ? और संसारका भान कहां ? और स्वर्गादि साध्य कहां ? तथा यज्ञ आदि साधन कहां ? क्योंकि वह सदा आकाशवत् निर्लेप और कल्पनारहित होता है ॥ ६६ ॥

स जयत्यर्थसंन्यासी पूर्णस्वरसविग्रहः ।
अकृत्रिमोऽनवच्छिन्ने समाधिर्यस्य वर्त्तते ॥ ६७ ॥

अन्वयः–पूर्णस्वरसविग्रहः स अर्थसंन्यासी जयति यस्य अनवच्छिन्ने अकृत्रिमः समाधिः वर्त्तते ॥ ६७ ॥

पूर्ण स्वभाववाला है स्वरूप जिसका ऐसे अर्थ कहिये दृष्ट और अदृष्ट फलको त्यागनेवालेकी जय (सर्वोपरि उन्नति) होती है, जिसका पूर्णस्वरूप आत्माके विषे स्वाभाविक समाधि होती है ॥ ६७ ॥

बहुनात्र किमुक्तेन ज्ञाततत्त्वो महाशयः ।
भोगमोक्षनिराकांक्षी सदा सर्वत्र नीरसः ॥ ६८ ॥

अन्वयः–अत्र बहुना उक्तेन किम् ? (यतः) ज्ञाततत्त्वः महाशयः भोगमोक्षनिराकांक्षी सदा सर्वत्र नीरसः (भवति) ॥ ६८ ॥

ज्ञानी पुरुषके अनेक प्रकारके लक्षण हैं उनका लक्षण पूर्णरीतिसे तो वर्णन करना कठिन है, परन्तु ज्ञानी पुरुषका एक साधा-

रण लक्षण यह है, कि ज्ञानी आत्मतत्त्वका जाननेवाला, आत्म-स्वरूपके विषे मग्न, भोग और मोक्षकी इच्छासे रहित तथा सदा योग आदि साधनोंमें प्रीति करनेवाला नहीं होता है ॥ ६८ ॥

महदादि जगद्द्वैतं नाममात्रविजृम्भितम् ।
विहाय शुद्धबोधस्य किं कृत्यमवशिष्यते ॥ ६९ ॥

अन्वयः—द्वैतम् नाममात्रविजृम्भितम् महदादि जगत् विहाय शुद्ध-बोधस्य किम् कृत्यम् अवशिष्यते ? ॥ ६९ ॥

द्वैतरूपसे भासनेवाले, नाममात्र ही भिन्नरूपसे भासमान, महत्तत्त्व आदि जगत्के विषे कल्पनाको दूर करके स्वप्रकाश चैतन्य-स्वरूप ज्ञानीको क्या कोई कार्य करना रहता है ? अर्थात् कोई भी कार्य करना नहीं रहता है ॥ ६९ ॥

भ्रमभूतमिदं सर्वं किंचिन्नास्तीति निश्चयी ।
अलक्ष्यस्फुरणः शुद्धः स्वभावेनैव शाम्यति ७० ॥

अन्वयः-इदम् सर्वम् भ्रमभूतम् (परमार्थतः) किञ्चित् न अस्ति इति निश्चयी अलक्ष्यस्फुरणः शुद्धः स्वभावेन एव शाम्यति ॥ ७० ॥

अधिष्ठानका साक्षात्कार होनेपर यह सम्पूर्ण विश्व भ्रममात्र है, परमार्थदृष्टिसे कुछ भी नहीं है, इस प्रकार जिसको निश्चय हुआ है और स्वप्रकाश चेतनस्वरूप आत्मस्वरूपके साक्षात्कारसे दूर हो गया है अज्ञानरूप मल जिसका ऐसा ज्ञानी स्वभावसे ही शांतिको प्राप्त होता है ॥ ७० ॥

शुद्धस्फुरणरूपस्य दृश्यभावमपश्यतः।
क्वविधिः क्वचवैराग्यंक्वत्यागःक्वशमोऽपि वा॥७१॥

अन्वयः—शुद्धस्फुरणरूपस्य दृश्यभावम् अपश्यतः (ज्ञानिनः) विधिः क्व वैराग्यम् क्व त्यागः क्व अपि वा शमः च क्व ? ॥ ७१॥

शुद्ध स्फुरणरूप अर्थात् स्वप्रकाश चेतनस्वरूप और दृश्य पदार्थोंको भी न देखनेवाले ज्ञानीको किसी कर्मके करनेकी विधि कहां ? और विषयोंसे वैराग्य कहां ? और त्याग कहां ? तथा शांति भी करना कहां ? यह सब तो तब हो सकता है जब सांसारिक पदार्थोंके विषे दृष्टि होती है ॥ ७१ ॥

स्फुरतोऽनन्तरूपेण प्रकृतिं च न पश्यतः।
क्व बन्धः क्व च वा मोक्षः क्व हर्षः क्व विषादिता॥

अन्वयः—अनंतरूपेण स्फुरतः प्रकृतिम् च न पश्यतः (ज्ञानिनः) बन्धः क हर्षः क्व वा मोक्षः क्व विषादिता च क्व ॥ ७२ ॥

जो ज्ञानी है वह अनंतरूप करके भासता है और आत्माको जानता है और देहादिके विषे दृष्टि नहीं लगाता है, उसको संसारका बन्धन नहीं होता है, मोक्षकी इच्छा नहीं होती है, हर्ष नहीं होता है और विषाद भी नहीं होता है ॥ ७२ ॥

बुद्धिपर्यंतसंसारे मायामात्रं विवर्तते।
निर्ममो निरहंकारो निष्कामः शोभते बुधः ७३॥

अन्वयः—बुद्धिपर्यंतसंसारे मायामात्रम् विवर्त्तते (अतः) बुधः निर्ममः निरहंकारः निष्कामः शोभते ॥ ७३ ॥

यह जगत् अज्ञानसे भासता है और ज्ञानसे जब मायामात्र (अज्ञान) निवृत्त हो जाता है तब ज्ञानस्वरूप आत्मा ही शेष रहता है इस कारण ज्ञानीको इस संसारमें ममता अहंकार तथा इच्छा नहीं होती है; इस कारण ब्रह्माकारवृत्तिकरके अत्यन्त शोभायमान होता है ॥ ७३ ॥

अक्षयं गतसन्तापमात्मानं पश्यतो मुनेः ।
क्व विद्या क्व च वा विश्वं क्व देहोऽहं ममेति वा ७४

अन्वयः—अक्षयम् गतसन्तापम् आत्मानम् पश्यतः मुनेः विद्या क्व विश्वम् क्व देहः वा अहम् मम इति च क्व ॥ ७४ ॥

अविनाशी सन्तापरहित ऐसे आत्मस्वरूपका जिसको ज्ञान हुआ है ऐसे ज्ञानीको विद्या (शास्त्र) कहां ? और विश्व कहां ? और देह कहां? तथा अहंममभाव कहां? क्योंकि उसको आत्मासे भिन्न अन्य स्फुरण ही नहीं होता है ॥ ७४ ॥

निरोधादीनि कर्माणि जहाति जडधीर्यदि ।
मनोरथान्प्रलापांश्च कर्तुमाप्नोत्यतत्क्षणात् ७५॥

अन्वयः—जडधीः यदि निरोधादीनि कर्माणि जहाति (तर्हि) अतत्क्षणात् मनोरथान् प्रलापान् च कर्त्तुम् आप्नोति ॥ ७५ ॥

जो मूढबुद्धि देहाभिमानी पुरुष है वह अति परिश्रम करके मनका निरोध समाधिके छूटते ही उसका मन फिर तुरंतही अनेक प्रकारसे संकल्प विकल्प करने लगता है और प्रलाप आदि संपूर्ण व्यापारोंको करने लगता है इस कारण ज्ञानके विना निरोध कुछ काम नहीं देता है ॥ ७५ ॥

मन्दः श्रुत्वापि तद्वस्तु न जहाति विमूढताम् ।
निर्विकल्पो बहिर्यत्नादन्तर्विषयलालसः ॥ ७६ ॥

अन्वयः—मन्दः तत् वस्तु श्रुत्वा अपि विमूढताम् न जहाति (अतः मूढः) यत्नात् बहिः निर्विकल्पः अन्तः विषयलालसः (भवति) ॥७६ ॥

जो देहाभिमानी मूढ पुरुष है वह वेदांतशास्त्रके अनेक ग्रंथोंके द्वारा आत्मस्वरूपको सुनकर भी देहाभिमानको नहीं त्याग सकता है. यद्यपि अतिपरिश्रम करके ऊपरसे त्याग दिखाता है, परन्तु मनमें अनेक विषयवासना रहती हैं ॥ ७६ ॥

ज्ञानाद्गलितकर्मा यो लोकदृष्ट्यापि कर्मकृत् ।
नाप्नोत्यवसरं कर्तुं वक्तुमेव न किञ्चन ॥ ७७ ॥

अन्वयः—यः ज्ञानात् गलितकर्मा (सः) लोकदृष्ट्या कर्मकृत् अपि किञ्चन कर्तुम् न वक्तुम् एव (च) अवसरम् न आप्नोति ॥ ७७ ॥

ज्ञानी लोकाचारके अनुसार कर्म करता है परंतु ज्ञानके प्रतापसे कर्मफलकी इच्छा नहीं करता है, क्योंकि वह केवल आत्म-

स्वरूपके विषे लीन रहता है, तिससे उसको कर्म करनेका अथवा कहनेका अवसर नहीं मिलता है॥ ७७ ॥

क्व तमः क्व प्रकाशो वा हानं क्व च न किञ्चन ।
निर्विकारस्य धीरस्य निरातङ्कस्य सर्वदा ॥७८॥

अन्वयः—सर्वदा निरातंकस्य निर्विकारस्य धीरस्य तमः क्व वा प्रकाशः क्व हानम् च क्व (तस्य) किञ्चन न (भवति) ॥ ७८ ॥

जो ज्ञानी है वह निर्विकार होता है, उसको काल आदिका भय नहीं होता है, उसको अंधकारका भान नहीं होता है, प्रकाशका भी भान नहीं होता है, उसको किसी बातकी हानि नहीं होती है, भय नहीं होता है वह सर्वदा मुक्त होता है ॥ ७८ ॥

क्व धैर्यं क्व विवेकित्वं क्व निरातङ्कतापि वा ।
अनिर्वाच्यस्वभावस्य निःस्वभावस्य योगिनः ॥

अन्वयः—अनिर्वाच्यस्वभावस्य निःस्वभावस्य योगिनः धैर्यम् क्व विवेकित्वम् क्व आपि च निरातङ्कता क्व ? ॥ ७९ ॥

ज्ञानीका स्वभाव किसीके ध्यानमें नहीं होता है क्योंकि ज्ञानी स्वभावरहित होता है उसका धीरजपना ज्ञानीपना तथा निर्भयपना नहीं होता है ॥ ७९ ॥

न स्वर्गो नैव नरको जीवन्मुक्तिर्न चैव हि ।
बहुनात्र किमुक्तेन योगदृष्ट्या न किञ्चन ॥८०॥

अन्वयः—अत्र बहुना उक्तेन किम् ? हि योगदृष्ट्या स्वर्गः न, नरकः न, मुक्तिः एव च न, किञ्चन न (भवति) ॥ ८० ॥

जिस ज्ञानीकी सर्वत्र आत्मदृष्टि हो जाती है उसको स्वर्ग, नरक और मुक्ति आदिका भेद नहीं होता है अर्थात् अधिक कहनेसे क्या प्रयोजन है ? ज्ञानी पुरुषको किसी प्रकारका भी भेद नहीं भासता है ॥ ८० ॥

नैवं प्रार्थयते लाभं नालाभेनानुशोचति ।
धीरस्य शीतलं चित्तममृतेनैव पूरितम् ॥ ८१ ॥

अन्वयः—(धीरः) लाभम् प्रार्थयते न एवम् अलाभेन अनुशोचति न (अतः) धीरस्य चित्तम् अमृतेन पूरितम् शीतलम् एव (भवति) ॥ ८१ ॥

जो ज्ञानी है वह लाभकी इच्छा नहीं करता है और लाभ नहीं होवे तो शोक नहीं करता है और इस कारणही धैर्यवान् ज्ञानीका चित्त ज्ञानामृतसे परिपूर्ण और इसी कारण शीतल कहिये तापत्रयरहित होता है ॥ ८१ ॥

न शान्तं स्तौति निष्कामो न दुष्टमपि निन्दति ।
समदुःखसुखस्तृप्तः किंचित्कृत्यं न पश्यति ८२

अन्वयः—निष्कामः शांतम् न स्तौति दुष्टम् अपि न निंदति, तृप्तः सन् समदुःखसुखः (भवति) (निष्कामत्वात्) किञ्चित् कृत्यम् न पश्यति॥८२॥

जो पुरुष कामनाशून्य ज्ञानी है वह किसी शांत पुरुषको देखकर प्रशंसा नहीं करता है और दुष्टको देखकर निंदा नहीं करता

है क्योंकि वह अपने ज्ञानरूपी अमृतेस तृप्त होता है तिस कारण नहीं सुखदुःखकी कल्पना करता है, तथा किसी कृत्यको नहीं देखता है ॥ ८२ ॥

धीरो न द्वेष्टि संसारमात्मानं न दिदृक्षति ।
हर्षामर्षविनिर्मुक्तो न मृतो न च जीवति ॥८३॥

अन्वयः—हर्षामर्षविनिर्मुक्तः धीरः संसारम् न द्वेष्टि, आत्मानम् न दिदृक्षति, न मृतः (भवति) न च जीवति ॥ ८३ ॥

जो धैर्यवान् अर्थात् ज्ञानी है वह संसारका द्वेष नहीं करता है तथा आत्माको देखनेकी इच्छा नहीं करता है, क्योंकि वह स्वयं ही आत्मस्वरूप है इस कारण उसको हर्ष तथा शोक नहीं होता है और जन्म मरणरहित होता है ॥ ८३ ॥

निःस्नेहः पुत्रदारादौ निष्कामो विषयेषु च ।
निश्चिन्तःस्वशरीरेऽपि निराशः शोभतेबुधः॥८४

अन्वयः—पुत्रदारादौ निःस्नेहः विषयेषु च निष्कामः स्वशरीरे अपि निश्चिन्तः निराशः बुधः शोभते ॥ ८४ ॥

पुत्र स्त्री आदिके विषे प्रीति न करनेवाले, विषयोंके भोगकी इच्छा रहित और अपने शरीरके विषे भी भोजनादिककी चिन्ता न करनेवाला, इस प्रकार सर्वत्र आशारहित ज्ञानी शोभाको प्राप्त होता है ॥ ८४ ॥

तुष्टिः सर्वत्र धीरस्य यथापतितवर्तिनः ।
स्वच्छन्दंचरतोदेशान्यत्रास्तमितशायिनः ॥८५॥

अन्वयः—यत्रास्तमितशायिनः देशान् स्वच्छन्दम् चरतः यथापतितवर्तिनः धीरस्य सर्वत्र तुष्टिः (भवति) ॥ ८५ ॥

जो ज्ञानी पुरुष है, उसको जो कुछ प्रारब्धानुसार मिलजाय उससे ही वह वर्ताव करता है और परम संतोषको प्राप्त होता है, तदनंतर अपनी दृष्टि जिधरको उठ जाती है उनहीं देशोंमें विचरता है और जहां ही सूर्य अस्त हो तहांही शयन करता है ॥ ८५ ॥

पततूदेतु वा देहो नास्य चिन्ता महात्मनः ।
स्वभावभूमिविश्रांतिविस्मृताशेषसंसृतेः ॥८६॥

अन्वयः—देहः पततु वा उदेतु स्वभावभूमिविश्रान्तिविस्मृताशेषसंसृतेः महात्मनः अस्य चिन्ता न (भवति) ॥ ८५ ॥

देह नष्ट होय अथवा सुखी रहे परन्तु अपने स्वरूपरूपी भूमिके विश्रामकरके संपूर्ण संसारको भूलनेवाले ज्ञानीको इस देहकी चिंता नहीं होती है ॥ ८६ ॥

अकिञ्चनः कामचारो निर्द्वन्द्वश्छिन्नसंशयः ।
असक्तः सर्वभावेषु केवलो रमते बुधः ॥ ८७ ॥

अन्वयः—अकिञ्चनः कामचारः निर्द्वन्द्वः छिन्नसंशयः सर्वभावेषु असक्तः बुधः केवलः रमते ॥ ८७ ॥

जो ज्ञानी है वह इकला ही आत्मस्वरूपके विषे रमता है, कुछ पास नहीं रखता है, तथापि अपनी इच्छानुसार वर्ताव करता है, ज्ञानीको संशय नहीं होता है और संम्पूर्ण विषयोंसे विरक्त रहता है ॥८७॥

निर्ममः शोभते धीरः समलोष्टाश्मकाञ्चनः।
सुभिन्नहृदयग्रन्थिर्विनिर्धूतरजस्तमाः ॥ ८८ ॥

अन्वयः—निर्ममः समलोष्टाश्मकाञ्चनः सुभिन्नहृदयग्रन्थिः विनिर्धूतरजस्तमाः धीरः शोभते ॥ ८८ ॥

ममताका त्यागनेवाला, मिट्टी पत्थर और सुवर्णको समान माननेवाला और दूर हो गयी है हृदयकी अज्ञानरूपी ग्रन्थि जिसकी ऐसा और दूर होगये हैं रज और तमगुण जिसके ऐसा ज्ञानी शोभाको प्राप्त होता है ॥ ८८ ॥

सर्वत्रानवधानस्य न किञ्चिद्वासना हृदि।
मुक्तात्मनो वितृप्तस्य तुलना केन जायते॥८९॥

अन्वयः—सर्वत्र अनवधानस्य हृदि किञ्चित् वासना न (भवति) (अतः) मुक्तात्मनः वितृप्तस्य (तस्य) केन तुलना जायते ॥ ८९ ॥

जिसकी संपूर्ण विषयोंमें आसक्ति नहीं है और जिसके हृदयके विषे किंचिन्मात्र भी वासना नहीं है और जो आत्मानन्दके विषे तृप्त है, ऐसे जीवन्मुक्त ज्ञानी पुरुषके समान त्रिलोकीमें कौन हो सकता है ॥ ८९ ॥

जानन्नपि न जानाति पश्यन्नपि न पश्यति ।
ब्रुवन्नपि न च ब्रूते कोऽन्यो निर्वासनादृते ९० ॥

अन्वयः–(यः) जानन् अपि न जानाति, पश्यन् अपि न पश्यति, ब्रुवन् अपि च न ब्रूते, (सः) निर्वासनात् ऋते अन्यः कः ? ॥ ९० ॥

जो जानता हुआ भी नहीं जानता है, देखता हुआ भी नहीं देखता है, बोलता हुआ भी नहीं बोलता है, ऐसा पुरुष ज्ञानीके सिवाय जगत्में और दूसरा कौन है, अर्थात् कोई भी नहीं है क्योंकि ज्ञानीको अभिमान तथा वासना नहीं होती है ॥ ९० ॥

भिक्षुर्वा भूपतिर्वापि यो निष्कामः स शोभते ।
भावेषु गलिता यस्य शोभनाशोभनामतिः ९१ ॥

अन्वयः–यस्य भावेषु शोभनाशोभना मतिः गलिता, (एतादृशः यः) निष्कामः सः भिक्षुः वा अपि वा भूपतिः शोभते ॥ ९१ ॥

जिस ज्ञानीकी शुभ पदार्थोंमें इच्छा बुद्धि नहीं होती है और अशुभ पदार्थोंमें द्वेषबुद्धि नहीं होती है ऐसा जो कामनारहित ज्ञानी है वह राजा हो तो विदेह (जनक) के समान शोभित होता है और भिक्षु होय तो परम ब्रह्मनिष्ठ याज्ञवल्क्यमुनिके समान शोभाको प्राप्त होता है, क्योंकि आत्मानन्दके विषे मग्न पुरुषको राज्य बन्धन नहीं करता है और त्याग मोक्षदायक नहीं होता है ९१ ॥

क्व स्वाच्छन्द्यं क्व संकोचः क्व वा तत्त्वविनिश्चयः ।
निर्व्याजार्जवभूतस्य चरितार्थस्य योगिनः ९२ ॥

अन्वयः–निर्व्याजार्जवभूतस्य चरितार्थस्य योगिनः स्वाच्छन्द्यम् क संकोचः क वा तत्त्वनिश्चयः क ? ॥ ९२ ॥

जो पुरुषका मन कपटरहित और कोमलतायुक्त है और जिसने आत्मज्ञानरूपी कार्यको सिद्ध किया है, ऐसे जीवन्मुक्त पुरुषको स्वाधीनपना भी नहीं होता और पराधीनपना भी नहीं होता है, तत्त्वका निश्चय करना भी नहीं होता है क्योंकि, उसका देहाभिमान दूर होजाता है ॥ ९२ ॥

आत्मविश्रांतितृप्तेन निराशेन गतार्तिना ।
अन्तर्यदनुभूयेत तत्कथं कस्य कथ्यते ॥ ९३ ॥

अन्वयः–आत्मविश्रान्तितृप्तेन निराशेन गतार्तिना (ज्ञानिना) अन्तः यत् अनुभूयेत तत् कथम् कस्य कथ्यते ? ॥ ९३ ॥

जो पुरुष आत्मस्वरूपके विषे विश्रामरूप अमृतका पान करके तृप्त हुआ है और आशामात्र निवृत्त हो गई है तथा जिसके भीतरकी पीड़ा शान्त होगई है ऐसा ज्ञानी अपने अन्तःकरणके विषे जो अनुभव करता है, उसको प्राणी किस प्रकार कह सकता है और उस अनुभवको किसको कहा जाय ? क्योंकि इसका अधिकारी दुर्लभ है ॥ ९३ ॥

सुप्तोऽपि न सुषुप्तौ च स्वप्नेऽपि शयितो न च ।
जागरेऽपि न जागर्ति धीरस्तृप्तः पदेपदे ॥ ९४ ॥

अन्वयः—पदे पदे तृप्तः धीरः सुषुप्तौ अपि च न सुप्तः, स्वप्ने अपि च न शयितः, जागरे अपि न जागर्ति ॥ ९४ ॥

ज्ञानीको सुषुप्ति अवस्था दीखती है परंतु ज्ञानी सुषुप्तिके वशीभूत नहीं होता है, ज्ञानीको स्वप्नावस्था भासती है पर ज्ञानी शयन नहीं करता है, साक्षिरूप रहता है और जाग्रदवस्था भासती है, ज्ञानी जाग्रदवस्थाके विकारोंसे अलग रहता है क्योंकि यह अवस्था बुद्धिकी तो है और जो बुद्धिसे पर है और उस आत्माकी कैसे हो सकती है इस लिये वह स्वानन्दसे तृप्त है ॥ ९४ ॥

ज्ञः सचिन्तोऽपि निश्चिन्तः सेन्द्रियोऽपि निरिन्द्रियः । सुबुद्धिरपि निर्बुद्धि साहङ्कारोऽनहंकृती ॥ ९५ ॥

अन्वय–ज्ञः सचिन्तः अपि निश्चिन्तः (भवति) सेन्द्रियः अपि निरिन्द्रियः (भवति) सुबुद्धिः अपि निर्बुद्धिः (भवति) साहंकारः अपि अनहंकृती (भवति) ॥ ९५ ॥

ज्ञानीको चिंता है ऐसा लोकोंके देखनेमें आता है परंतु ज्ञानी निश्चिंत होता है, ज्ञानी इंद्रियोंसहित दीखता है परंतु वास्तवमें ज्ञानी इंद्रिय रहित होता है, व्यवहारमें ज्ञानी चतुर बुद्धिवाला दीखता है परंतु ज्ञानी बुद्धिरहित होता है और ज्ञानी अहंकार युक्तसा दीखता हैं परंतु ज्ञानीको अहंकारका लेश भी नहीं होता है ॥ ९५ ॥

न सुखी न च वा दुःखी न विरक्तो न सङ्गवान् ।
न मुमुक्षुर्न वा मुक्तो न किञ्चिन्न च किञ्चन ९६

अन्वयः-(ज्ञानी) न सुखी, वा न च दुःखी, न विरक्तः, न सङ्गवान्, न मुमुक्षुः, वा न मुक्तः, न किञ्चित्, न च किञ्चन ॥ ९६ ॥

ज्ञानी सुखी नहीं होता, दुःखी नहीं होता है, विरक्त नहीं होता है, आसक्त नहीं होता है; मोक्षकी इच्छा नहीं करता है, सद्रूप, अनिर्वचनीय होता है ॥ ९६ ॥

विक्षेपेऽपि न विक्षिप्तः समाधौ न समाधिमान् ।
जाड्येऽपि न जडो धन्यः पाण्डित्येऽपि न पण्डितः ॥ ९७ ॥

अन्वयः-धन्यः विक्षेपे अपि विक्षिप्तः न, समाधौ समाधिमान् न, जाड्ये अपि जडः न, पाण्डित्ये अपि पण्डितः न ॥ ९७ ॥

ज्ञानीका विक्षेप दीखता है परन्तु ज्ञानी विक्षिप्त नहीं होता है, ज्ञानीकी समाधि दीखती है परंतु ज्ञानी समाधि नहीं करता है, ज्ञानीके विषे जडपना दीखता है परंतु ज्ञानी जड नहीं होता है तथा ज्ञानीमें पंडितपना दीखता है परंतु ज्ञानी पंडित नहीं होता है क्योंकि, यह संपूर्ण विकार देहाभिमानीके विषे रहते हैं ॥ ९७ ॥

मुक्तो यथास्थितिस्वस्थः कृतकर्तव्यनिर्वृतः ।
समः सर्वत्रवैतृष्ण्यान्न स्मरत्यकृतं कृतम् ॥ ९८ ॥

अन्वयः--यथास्थितिस्वस्थः कृतकर्त्तव्यनिर्वृतः सर्वत्र समः मुक्तः वैतृष्ण्यात् कृतम् अकृतम् न स्मरति ॥ ९८ ॥

जैसी अवस्था प्राप्त हो उसमेंही स्वस्थ रहनेवाला और किये हुए और कर्तव्यकर्मोंके विषे अहंकार और उद्वेग न करनेवाला अर्थात् संतोषयुक्त तथा सर्वत्र आत्मदृष्टि करनेवाला जीवन्मुक्त ज्ञानी पुरुष तृष्णाके न होनेसे यह कार्य किया, यह नहीं किया ऐसा स्मरण नहीं करता है ॥ ९८ ॥

न प्रीयते वन्द्यमानो निंद्यमानो न कुप्यति ।
नैवोद्विजाति मरणे जीवने नाभिनन्दति ॥ ९९ ॥

अन्वयः--(ज्ञानी) वंद्यमानः प्रीयते न, निन्द्यमानः कुप्यति न, मरणे उद्विजति न एव, जीवने अभिनन्दति न ॥ ९९ ॥

जो ज्ञानी है, उसकी कोई प्रशंसा करे तो प्रसन्न नहीं होता है और निंदा करे तो कोप नहीं करता है तिसी प्रकार मृत्यु भी सामने आती दीखे तो भी ज्ञानी घबडाता नहीं है, और बहुत वर्षोंपर्यंत जीवे तो भी प्रसन्न नहीं होता है ॥ ९९ ॥

न धावति जनाकीर्णं नारण्यमुपशान्तधीः ।
यथा तथा यत्र तत्र सम एवावतिष्ठते ॥ १०० ॥

अन्वयः--उपशान्तधीः जनाकीर्णम् न धावति, (तथा) अरण्यम् न (धावति) किन्तु यत्र तत्र यथा तथा समः एव अवतिष्ठते ॥ १०० ॥

जिस ज्ञानीकी वृत्ति शांत हो गई है वह जहां मनुष्योंकी सभा होय तहां जानेकी इच्छा नहीं करता है; तिसी प्रकार निर्जन स्थान जो वन तहां भी जानेकी इच्छा नहीं करता है, किंतु जिस समय जो स्थान मिल जाय वहांही स्थिति करके निवास करता है क्योंकि नगरमें तथा वनमें ज्ञानीकी एक समान बुद्धि होती है अर्थात् ज्ञानीकी दृष्टिमें जैसा नगर है वैसाही वन होता है ॥ १०० ॥

इति श्रीमदष्टावक्रमुनिविरचितायां ब्रह्मविद्यायां सान्वयभाषाटीकया सहितं शान्तिशतकं नामाष्टादशं प्रकरणं समाप्तम् ॥ १८ ॥

अथैकोनविंशतिकं प्रकरणम् १९.

तत्त्वविज्ञानसंदंशमादाय हृदयोदरात् ।
नानाविधपरामर्शशल्योद्धारः कृतो मया ॥१॥

अन्वयः--मया हृदयोदरात् तत्त्वविज्ञानसन्देशम् आदाय नानाविधपरामर्शशल्योद्धारः कृतः ॥ १ ॥

श्रीगुरुके मुखसे साधनसहित ज्ञानका श्रवण करके शिष्यको आत्मस्वरूपके विषे विश्राम प्राप्त हुआ, तिसका सुख आठ श्लोकों करके वर्णन करते हैं। हे गुरो! आपसे तत्त्वज्ञानरूप सांडसीको

लेकर अपने हृदयमेंसे नानाप्रकारके संकल्प विकल्परूप कांटेको दूर कर दिया ॥ १ ॥

क्व धर्मः क्व च वा कामः क्व चार्थः क्व विवेकिता।
क्व द्वैतं क्वचवाऽद्वैतंस्वे महिम्नि स्थितस्य मे॥२॥

अन्वयः—स्वे महिम्नि स्थितस्य मे धर्मः क्व, वा कामः च क्व, अर्थः विवेकिता च क्व, द्वैतं क्व, वा अद्वैतम् च क्व ? ॥ २ ॥

हे गुरो ! धर्म अर्थ काम मोक्ष इन चारोंका फल तुच्छ है, इस कारण तिन धर्मादिरूप कांटेको दूर करके आत्मस्वरूपके विषे स्थितको प्राप्त हुआ जो मैं इसवास्ते मेरेको द्वैत नहीं भासता है, इस कारण ही मुझे अद्वैतविचार भी नहीं करना पडता है। क्योंकि " उत्तीर्णे तु परे पारे नौकायाः किं प्रयोजनम् " जब परली पार उतर गये तो फिर नौकाकी क्या आवश्यकता है ? इस कारण जब द्वैतका भानही नहीं है तो फिर अद्वैत विचार करनेसे फलही क्या ? ॥ २ ॥

क्व भूतं क्व भविष्यद्वा वर्त्तमानमपि क्व वा।
क्व देशः क्व च वा नित्यं स्वेमहिम्नि स्थितस्यमे ३

अन्वयः—नित्यम् स्वे महिम्नि स्थितस्य मे भूतम् क्व वा, भविष्यत् क्व, अपि वा वर्त्तमानं क्व, देशः क्व (अन्यत्) च वा क्व ? ॥ ३ ॥

नित्य आत्मस्वरूपके विषे स्थित जो मैं तिस मुझे भूतकाल कहां है, भविष्यत् काल कहां है, वर्तमानकाल कहां है, देश कहां है तथा अन्य वस्तु कहां है ? ॥ ३ ॥

क्व चात्मा क्व च वाऽनात्मा क्व शुभं क्वाशुभं तथा ॥ क्व चिन्ता क्व च वाचिन्ता स्वे महिम्नि स्थितस्य मे ॥ ४ ॥

अन्वयः—स्वमहिम्नि स्थितस्य मे आत्मा क्व, वा अनात्मा च क्व, शुभम् क्व, तथा अशुभम् क्व, चिन्ता क्व वा अचिन्ता च क्व ? ॥ ४ ॥

आत्मस्वरूपके विषे स्थित जो मैं तिस मुझे आत्मा, अनात्मा, शुभ, अशुभ, चिन्ता और अचिन्ता यह नाना प्रकार भेद नहीं भासता है ॥ ४ ॥

क्व स्वप्नः क्व सुषुप्तिर्वा क्व च जागरणं तथा। क्व तुरीयंभयंवापि स्वेमहिम्निस्थितस्यमे ॥ ५ ॥

अन्वयः—स्वे महिम्नि स्थितस्य मे स्वप्नः क्व वा सुषुप्तिः च क्व तथा जागरणम् क्व, तुरीयम् अपि वा भयम् क्व ? ॥ ५ ॥

आत्मस्वरूपके विषे स्थित जो मैं तिससे मेरी स्वप्नावस्था नहीं होती है, सुषुप्ति अवस्था नहीं है तथा जाग्रत् अवस्था भी नहीं होती है; क्योंकि यह तीनों अवस्था बुद्धिकी हैं आत्माकी नहीं हैं, मेरी तुरीयावस्था भी नहीं होती है तथा अन्तःकरण धर्म जो भय आदि सो भी मुझे नहीं होता है ॥ ५ ॥

क्व दूरं क्व समीपं वा बाह्यं क्वाभ्यन्तरं क्व वा। क्व स्थूलं क्व च वा सूक्ष्मं स्वे महिम्नि स्थितस्यमे॥

अन्वयः—स्वे महिम्नि स्थितस्य मे दूरम् क वा समीपम् क, बाह्यम् क वा आभ्यंतरम् क, स्थूलम् क वा सूक्ष्मम् च क ? ॥ ६ ॥

दूरपना, समीपपना, बाहरपना, भीतरपना, मोटापना तथा सूक्ष्मपना ये सब मेरे विषे नहीं हैं क्योंकि मैं तो सर्वव्यापी आत्मस्वरूपमें स्थित हूं ॥ ६ ॥

क मृत्युर्जीवितं वा क लोकाः कास्य क लौकिकम् । क लयः क्व समाधिर्वा स्वे महिम्नि स्थितस्य मे ॥ ७ ॥

अन्वयः—स्वे महिम्नि स्थितस्य अस्य मे मृत्युः जीवितम् क, लोकाः क वा लौकिकम् क, वा समाधिः क ? ॥ ७ ॥

आत्मस्वरूपके विषे स्थित जो मैं तिस मेरा मरण नहीं होता है, जीवन नहीं होता है; क्योंकि मैं तो त्रिकालमें सत्यरूप हूँ, केवल आत्मामात्रको देखनेवाला जो मैं तिस मुझे भू आदि लोकोंकी प्राप्ति नहीं होती है, इसी कारण मुझे कोई भी कर्त्तव्य नहीं है; मैं पूर्णात्मा हूं, इस कारण मेरा लय वा समाधि नहीं होती है ॥ ७ ॥

अलं त्रिवर्गकथया योगस्य कथयाप्यलम् । अलं विज्ञानकथया विश्रान्तस्य ममात्मनि ॥ ८ ॥

अन्वयः—आत्मनि विश्रांतस्य मम त्रिवर्गकथया योगस्य कथया अलम् विज्ञानकथया अपि अलम् ॥ ८ ॥

आत्माके विषे विश्रामको प्राप्त हुआ जो मैं तिस मुझे धर्म, अर्थ, कामरूप त्रिवर्गकी चर्चासे कुछ प्रयोजन नहीं है, योगकी चर्चा करके कुछ प्रयोजन नहीं है तथा ज्ञानकी चर्चा करनेसे भी कुछ प्रयोजन नहीं है ॥ ८ ॥

इति श्रीमदष्टावक्रमुनिविरचितायां ब्रह्मविद्यायां भाषाटीकया सहितमेकोनविंशं प्रकरणं समाप्तम् ॥ १९ ॥

अथ विंशतिकं प्रकरणम् २०.

क्व भूतानि क्व देहो वा क्वेन्द्रियाणि क्व वा मनः ।
क्व शून्यं क्व च नैराश्यं मत्स्वरूपे निरंजने ॥ १ ॥

अन्वयः—निरञ्जने मत्स्वरूपे भूतानि क्व देहो वा क्व इन्द्रियाणि क्व मनो वा क्व शून्यम् क्व नैराश्यं च क्व ? ॥ १ ॥

पूर्व वर्णन की हुई आत्मास्थिति जिसकी हो जाय जीवन्मुक्तिकी दशाका इस प्रकरणमें चौदह श्लोकों करके वर्णन करते हैं कि, हे गुरो ! मैं संपूर्ण उपाधिरहित हूँ, इस कारण मेरे विषे पंचमहाभूत तथा इंद्रियें तथा मन नहीं हैं क्योंकि मैं चेतनस्वरूप हूँ तिसी प्रकार शून्यपना और निराशपना भी नहीं है ॥ १ ॥

क्व शास्त्रं क्वात्मविज्ञानं क्व वा निर्विषयं मनः ।
क्व तृप्तिः क्व वितृष्णत्वं गतद्वन्द्वस्य मे सदा ॥ २

अन्वयः—सदा गतद्वन्द्वस्य मे शास्त्रम् क्व, आत्मविज्ञानम् क्व, वा निर्विषयम् मनः क्व, तृप्तिः क्व, वितृष्णत्वम् क्व ? ॥ २ ॥

शास्त्राभ्यास करना, आत्मज्ञानका विचार करना, मनको जीतना, मनमें तृप्ति रखना और तृष्णाको दूर करना यह कोई भी मुझमें नहीं है, क्योंकि मै द्वंद्वरहित हूँ ॥ २ ॥

क्व विद्या क्व च वा विद्या क्वाहं क्वेदं मम क्व वा। क्व बन्धः क्व च वा मोक्षः स्वरूपस्य क्व रूपिता ॥ ३ ॥

अन्वयः—(मयि) विद्या क्व, अविद्या च क्व वा अहम् क्व, इदम् क्व वा मम क्व बन्धः, क्व वा मोक्षः च क्व, स्वरूपस्य रूपिता क्व ? ॥ ३ ॥

अहंकाररहित जो मैं हूँ तिस मेरे विषे विद्या अविद्या मैं हूँ, 'मेरा है, यह है' इत्यादि अभिमानके धर्म नहीं हैं तथा वस्तुका ज्ञान मेरे विषे नहीं है और वन्ध मोक्ष मेरे नहीं होते हैं, मेरा रूप भी नहीं है, क्योंकि मैं चैतन्यमात्र हूँ ॥ ३॥

क्वप्रारब्धानिकर्माणिजीवन्मुक्तिरपि क्व वा। क्व तद्विदेहकैवल्यं निर्विशेषस्य सर्वदा ॥ ४ ॥

अन्वयः—सर्वदा निर्विशेषस्य (मे) प्रारब्धानि कर्माणि क्व वा जीवन्मुक्तिः अपि क्व, तद्विदेहकैवल्यम् क्व ? ॥ ४ ॥

सर्वदा निर्विशेष स्वरूप जो मैं तिस मेरे प्रारब्ध कर्म नहीं होता

है और जीवन्मुक्ति अवस्था तथा विदेह मुक्ति भी नहीं है क्योंकि मैं सर्वधर्मरहित हूं ॥ ४ ॥

क्वकर्त्ताक्वचवाभोक्तानिष्क्रियंस्फुरणंक्ववा।
क्वापरोक्षंफलंवाक्वनिःस्वभावस्यमेसदा ॥ ५ ॥

अन्वयः—सदा निःस्वभावस्य मे कर्त्ता क्व च वा भोक्ता क्व वा निष्क्रियम् स्फुरणम् क्व अपरोक्षम् क्व वा फलम् क्व ? ॥ ५ ॥

मैं सदा स्वभावरहित हूं, इस कारण मेरे विषे कर्तापना नहीं है भोक्तापना नहीं है तथा विषयाकारवृत्त्यवाच्छिन्न चैतन्यरूप फल भी नहीं है ॥ ५ ॥

क्वलोकःक्वमुमुक्षुर्वाक्वयोगीज्ञानवान्क्ववा।
क्वबद्धःक्वचवामुक्तःस्वस्वरूपेऽहमद्वये ॥ ६ ॥

अन्वयः—अहमद्वये स्वस्वरूपे लोकः क्व वा मुमुक्षुः क्व, योगी क्व, ज्ञानवान् क्व, बद्धः क्व वा मुक्तः च क्व ? ॥ ६ ॥

आत्मरूप अद्वैत स्वरूपके होनेपर न लोक है न मोक्षकी इच्छा करनेवाला हूं, न योगी हूँ, न ज्ञानी हूं, न बद्ध हूं, न मुक्त हूं ॥ ६ ॥

क्वसृष्टिःक्व चसंहारःक्व साध्यं क्व च साधनम्।
क्वसाधकःक्व सिद्धिर्वा स्वस्वरूपेऽहमद्वये ॥ ७ ॥

अन्वयः—अहम् अद्वये स्वस्वरूपे सृष्टिः क्व, संहारः च क्व, साध्यम् क्व, साधनम् च क्व, साधकः क्व वा सिद्धिः क्व ॥ ७ ॥

आत्मरूप अद्वैत स्वस्वरूपके होनेपर न सृष्टि है न कार्य है, न साधन है और न सिद्धि है क्योंकि मैं सर्वधर्मरहित हूं ॥ ७ ॥

क्क प्रमाता प्रमाणं वा क्क प्रमेयं क्क च प्रमा ।
क्क किञ्चित्क्कनाकिञ्चिद्वासर्वदाविमलस्य मे ॥८॥

अन्वयः—सर्वदा विमलस्य मे प्रमाणं वा प्रमाता क्क प्रमेयं क्क प्रमा च क्क किञ्चित् क्क न किञ्चित् क्क ॥ ८ ॥

आत्मा उपाधि रहित है तिस आत्माके विषे प्रमाता प्रमाण तथा प्रमेय ये तीनों नहीं हैं और कुछ है अथवा कुछ नहीं है, ऐसी कल्पना भी नहीं है ॥ ८ ॥

क्क विक्षेपः क्क चैकाग्र्यं क्क निर्बोधः क्क मूढता ।
क्क हर्षः क्कविषादो वा सर्वदा निष्क्रियस्यमे ९॥

अन्वयः—सर्वदा निष्क्रियस्य मे विक्षेपः क्क ऐकाग्र्यं क्क च निर्बोधः क्क मूढता क्क हर्षः क्क विषादो वा क्क ॥ ९ ॥

मैं सदा निर्विकार आत्मस्वरूप हूँ इस कारण मेरे विषे विक्षेप तथा एकाग्रता, ज्ञानीपना, मूढता, हर्ष और विषाद ये विकार नहीं हैं ॥ ९ ॥

क्क चैष व्यवहारो वा क्क च सा परमार्थता ।
क्क सुखं क्क च वादुःखंनिर्विमर्शस्य मे सदा॥१०॥

अन्वयः—सदा निर्विमर्शस्य मे एषः व्यवहारः क्क वा सा परमार्थता च क्क सुखं च वा दुःखं च क्क ॥ १० ॥

मैं सदा संकल्पविकल्परहित आत्मस्वरूप हूँ इस कारण मेरे विषे व्यवहारावस्था नहीं है परमार्थावस्था नहीं है और सुख नहीं है तथा दुःख भी नहीं है ॥ १० ॥

क्व माया क्व च संसारः क्व प्रीतिर्विरतिः क्व वा ।
क्व जीवः क्व च तद्ब्रह्म सर्वदा विमलस्य मे ॥ ११॥

अन्वयः—सर्वदा विमलस्य मे माया क्व संसारः क्व च प्रीतिः वा विरतिः क्व जीवः क्व तत् ब्रह्म च क्व ॥ ११ ॥

मैं सदा शुद्ध उपाधिरहित आत्मस्वरूप हूँ इस कारण मेरे विषे माया नहीं है, संसार नहीं है, प्रीति नहीं है, वैराग्य नहीं है, जीवभाव नहीं है तथा ब्रह्मभाव भी नहीं है ॥ ११ ॥

क्व प्रवृत्तिर्निवृत्तिर्वा क्व मुक्तिः क्व च बन्धनम् ।
कूटस्थनिर्विभागस्य स्वस्थस्य मम सर्वदा १२॥

अन्वयः—कूटस्थनिर्विभागस्य सदा स्वस्थस्य मम प्रवृत्तिः क्व वा निवृत्तिः क्व, मुक्तिः क्व बन्धनम् च क्व ॥ १२ ॥

निर्विकार भेदरहित कूटस्थ और सर्वदा स्वस्थ आत्मस्वरूप जो मैं हूं तिस मेरे विषे प्रवृत्ति नहीं है, निवृत्ति नहीं है, मुक्ति नहीं है तथा बंधन भी नहीं है ॥ १२ ॥

क्वोपदेशः क्ववाशास्त्रं क्व शिष्यः क्वचवागुरुः ।
क्व चास्ति पुरुषार्थोवानिरुपाधेः शिवस्यमे॥१३॥

अन्वयः—निरुपाधेः शिवस्य मे उपदेशः क्व शास्त्रं क्व शिष्यः वा गुरुश्च क्व वा पुरुषार्थः क्व अस्ति ॥ १३ ॥

उपाधिशून्य नित्यानंदस्वरूप जो मैं हूं तिस मेरे अर्थ उपदेश नहीं है, शास्त्र नहीं है, शिष्य नहीं है गुरु तथा परम पुरुषार्थ जो मोक्ष सो भी नहीं है ॥ १३ ॥

क्वचास्ति क्व चवानास्ति क्वास्तिचैकं क्वचद्वयम्।
बहुनात्राकिमुक्तेनाकिञ्चिन्नोत्तिष्ठते मम ॥ १४ ॥

अन्वयः–(मम) अस्ति च क्व, वा न अस्ति च क्व एकं च क्व अस्ति, द्वयं च क्व, इह बहुना उक्तेन किम्, मम किञ्चित् न उत्तिष्ठते ॥ १४ ॥

मैं आत्मस्वरूप हूं इस कारण मेरे विषे अस्तिपना नहीं है, नास्तिपना नहीं है, एकपना नहीं है, द्वैतपना नहीं है. इस प्रकार कल्पित पदार्थोंकी वार्ता करोडों वर्षोंपर्यंत कहूं तब भी पार नहीं मिल सकता, इस कारण संक्षेपसे कहता हूं कि, मेरे विषे किसी कल्पनाका भी आभास नहीं होता है, क्योंकि मैं एकरस चेतन स्वरूप हूं ॥ १४ ॥

इति श्रीमदष्टावक्रमुनिविरचितायां ब्रह्मविद्यायां भाषाटीकया सहितं विंशतिकं प्रकरणं समाप्तम् ॥ २० ॥

अथैकविंशतिकं प्रकरणम् २१.

विंशतिश्चोपदेशे स्युः श्लोकाश्चपञ्चविंशतिः ।
सत्यात्मानुभवोल्लासे उपदेशे चतुर्दश ॥ १ ॥

अन्वयः-उपदेशे विंशतिः च श्लोकाः स्युः । सत्यात्मानुभवोल्लासे पञ्चविंशतिः; उपदेशे चतुर्दश च श्लोकाः स्युः ॥ १ ॥

अब ग्रंथकर्ताने इस प्रकरणमें ग्रंथकी श्लोकसंख्या और विषय दिखाये हैं। गुरूक्त उपदेश नामक प्रथम प्रकरणमें २० श्लोक हैं। शिष्योक्त आत्मानुभवनामक द्वितीय प्रकरणमें २५ श्लोक हैं। आक्षेपापेदेशनामक तृतीय प्रकरणमें १४ श्लोक हैं ॥ १ ॥

षडुल्लासे लये चैवोपदेशे च चतुश्चतुः ।
पञ्चकं स्यादनुभवे बन्धमोक्षेचतुष्ककम् ॥ २ ॥

अन्वयः-(चतुर्थ-) उल्लासे षट् । लये च उपदेशे च एवं चतुश्चतुः, अनुभवे पञ्चकम् स्यात्, बन्धमोक्षे चतुष्ककम् स्यात् ॥ २ ॥

शिष्यानुभवनामक चतुर्थ प्रकरणमें ६ श्लोक हैं। लयनामक पंचम प्रकरणमें ४ श्लोक हैं। गुरूपदेशनामक षष्ठ प्रकरणमें भी ४ श्लोक हैं। शिष्यानुभवनामक सप्तम प्रकरणमें ५ श्लोक हैं। बंधमोक्षनामक अष्टम प्रकरणमें ४ श्लोक हैं ॥ २ ॥

निर्वेदोपशमे ज्ञान एवमेवाष्टकं भवेत् ।
यथासुखे सप्तकं च शांतौ स्याद्वेदसंमितम् ॥ ३ ॥

अन्वयः--निर्वेदोपशमे एवम् एव ज्ञाने अष्टकम् भवेत् । यथासुखे च सप्तकम् । शान्तौ च वेदसंमितं स्यात् ॥ ३ ॥

निर्वेदनामक नवम प्रकरणमें ८ श्लोक हैं। उपशमनामक दशम प्रकरणमें ८ श्लोक हैं । ज्ञानाष्टकनामक एकादश प्रकरणमें ८

श्लोक हैं। एवमेवाष्टकनामक द्वादश प्रकरणमें ८ श्लोक हैं। यथा-सुखनामक त्रयोदश प्रकरणमें ७ श्लोक हैं। शांतिचतुष्कनामक चतुर्दश प्रकरणमें ४ श्लोक हैं॥ ३॥

तत्त्वोपदेशे विंशच्च दश ज्ञानोपदेशके।
तत्त्वरूपे च विंशच्च शमे च शतकं भवेत् ॥४॥

अन्वयः-- तत्त्वोपदेशे विंशत्। ज्ञानोपदेशके च दश। तत्त्वस्वरूपके च विंशत्। शमे च शतकम् भवेत्॥ ४॥

तत्त्वोपदेशनामक पंचमदशप्रकरणमें २० श्लोक हैं। ज्ञानोपदेशनामक षोडश प्रकरणमें १० श्लोक हैं। तत्त्वस्वरूपनामक सप्तदश प्रकरणमें २० श्लोक हैं। शमनामक अष्टादश प्रकरणमें १०० श्लोक हैं॥ ४॥

अष्टकं चात्मविश्रान्तौ जीवन्मुक्तौ चतुर्दश।
षट् संख्याक्रमविज्ञाने ग्रन्थैकात्म्यं ततः परम् ॥ ५॥ विंशत्येकमितैः खण्डैः श्लोकैरात्माग्नि-मध्यगैः। अवधूतानुभूतेश्च श्लोकाः संख्या-क्रमा अमी ॥ ६॥

अन्वयः--आत्मविश्रान्तौ च अष्टकम्। जीवन्मुक्तौ चतुर्दश। संख्या-क्रमविज्ञाने षट्। ततः परम् आत्माग्निमध्यगैः श्लोकैः विंशत्येकमितैः

खण्डैः ग्रन्थैकात्म्यम् (भवति) । अमी श्लोकाः अवधूतानुभूतेः संख्याक्रमाः (कथिताः) ॥ ५ ॥ ६ ॥

आत्मविश्रान्तिनामक उन्नीसवें प्रकरणमें ८ श्लोक हैं । जीवन्मुक्तिनामक विंशतिक प्रकरणमें १४ श्लोक हैं और संख्याक्रमविज्ञान नामक एकविंशतिक प्रकरणमें ६ श्लोक हैं और संपूर्णग्रंथमें इक्कीस प्रकरण और ३०३ श्लोक हैं । इस प्रकार अवधूतका अनुभवरूप जो " अष्टावक्रगीता " है उसके श्लोकोंकी संख्याका क्रम कहा । यद्यपि अंतके श्लोककरके सहित ३०३ श्लोक हैं, परंतु 'दशमपुरुष' के समान यह श्लोक अपनेको ग्रहणकर अन्य श्लोकोंकी गणना करता है ॥ ५ ॥ ६ ॥

इति श्रीमदष्टावक्रमुनिविरचितायां ब्रह्मविद्यायां सान्वयभाषाटीकया सहितं संख्याक्रमव्याख्यानं नामैकविंशतिकं प्रकरणं समाप्तम् ॥ १९ ॥

इति सान्वयभाषाटीकासमेता अष्टावक्रगीता समाप्ता ॥
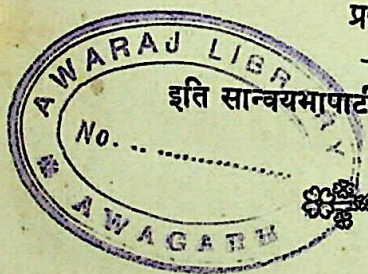
पुस्तक मिलनेका ठिकाना-

गङ्गाविष्णु श्रीकृष्णदास,
"लक्ष्मीवेङ्कटेश्वर" स्टीम्-प्रेस,
कल्याण-बम्बई.

खेमराज श्रीकृष्णदास,
"श्रीवेंकटेश्वर" स्टीम्-प्रेस,
बम्बई.